

रंगमंच
वेखना और जानना

लक्ष्मीनारायण लाल



सा त वा ह न

रंगमंच : देखना और जानना
प्रथम संस्करण 1983
लक्ष्मीनारायण लाल © 1983
ईस्टर्न मीडिया सर्विसेज प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली
के विभाग
सातवाहन पब्लिकेशन्स
नयी दिल्ली-110 065
द्वारा प्रकाशित
प्रेसको इण्डिया, मोजपुर, दिल्ली-110053
द्वारा मुद्रित

अति लघु बात लागि दुख पावा ।
काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा ॥
— अयोध्या काण्ड

श्री विद्यानिवास मिश्र को
सादर, सप्रेम ।

अनुक्रम

पूर्वरंग	:	9
रंगमंच	:	17
नाटक और नाटककार	:	35
रचना और करना	:	53
प्रस्तुतीकरण और निर्देशक	:	67
अभिनय और अभिनेता	:	79
देखना और जानना	:	93

पूर्वरंग

रंगमंच में 'भूमिका' ही बुनियाद है। हमारी नाट्य परम्परा में पूर्वरंग क्यों इतना अनिवार्य था? लगता है रंगमंच की 'भूमिका' तैयार करने में जो प्रयत्न, संकल्प और दृष्टि है उसका एक ही उद्देश्य है कि सब में परस्पर प्रसंग जोड़ा जाय, कहीं कुछ भी अप्रासंगिक न रह जाय। यही है पूर्वरंग का काम। कभी-कभी मुझे इस प्रसंग में ऐसा लगा है कि पूर्वरंग जैसे नाटक का पूर्वजन्म है। 'पूर्व' से 'वर्तमान' का जो सम्बन्ध है, वस्तुतः उस सम्बन्ध को ही 'देखना' और 'जानना', यही हमारी भूमिका है।

'भूमिका' अर्थात् अपनी भूमि को देखना और जानना; परम्परा की भूमिका, चैतन्य की भूमिका, कला और सौन्दर्यबोध की भूमिका।

इतने वर्ष हिन्दी रंगमंच में कुछ काम करते हुए धीरे-धीरे इस प्रश्न के सामने मैंने अपने आप को पाया कि इस रंगमंच में 'हमारा' क्या है? हिन्दी नाट्य में 'हिन्दी' कहाँ है, और भारतीय रंगमंच में 'भारतीय' कहाँ है?

आधुनिक रंगमंच के नाम से जो कुछ भारतवर्ष में है, मैं निस्संकोच लिख कर कह रहा हूँ, कि यह सब कुछ पश्चिम की बंसाखियों पर खड़ा है। पूरा पश्चिम पर भी नहीं। पश्चिम की पूरी नकल भी नहीं। इस प्रसंग में नाटककार के रूप में केवल रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटकों को भारतीय कहा जा सकता है।

यह निर्विवादतः सत्य है, कि जो आधुनिक है, वह स्वभावतः पश्चिम का है। रंगमंच के अपने सन्दर्भों में जो भारतीय है, अर्थात् जो हमारी परम्परा है, उसकी वैज्ञानिक खोज, जाँच पड़ताल, अनुसन्धान किये बिना हमें कुछ भी हासिल नहीं हो सकता।

अपनी-अपनी रंग परम्परा का यह वैज्ञानिक अनुसन्धान रूस में स्टेन्स-लाव्स्की ने किया है, जर्मनी में ब्रेख्त ने, पोलैण्ड में गोटोवस्की ने। पीटर

बुक प्रोटोवस्की से प्रेरणा लेकर यही अनुसन्धान कर रहा है। यह अनुसन्धान इंग्लैण्ड में नहीं हो रहा है। यह अनुसन्धान भारतवर्ष में भी नहीं हुआ।

भारतवर्ष आधुनिक इंग्लैण्ड का उपनिवेश रहा है। वर्तमान भारतवर्ष अपनी आजादी के बावजूद उसी इंग्लैण्ड का सांस्कृतिक उपनिवेश बन कर आज किसी तरह साँसें ले रहा है। साँसें इस लिए, कि सन् 1835 से लेकर आज तक जिस गुलामी और शोषण में भारतवर्ष रहा है, उसमें अब इतनी भी शक्ति शेष नहीं रही है कि वह नकल तक कर सके। नकल करने के लिए भी अकल चाहिए, यह हमारे यहाँ का लोक मुहावरा है।

भारतवर्ष का गत दो हजार वर्षों का जो जीवन इतिहास रहा है, उसके डेर और मलबे के नीचे भारतवर्ष का अपना रंगमंच ढूँढना, तलाशना, और वैज्ञानिक अनुसन्धान करना, इतना सरल काम नहीं है। नाट्य, रंग, नाट्य, मण्डप, अभिनेता, अभिनय, दर्शक, सूत्रधार, लोक, शास्त्र, ध्रुव, वेश, अधिष्ठान, अवस्था, रूपक, आदि असंख्य भाव, बिन्दु, रुढ़ियाँ, स्वरूप, धमिता, वृत्तियाँ, परम्पराएँ क्या-क्या रही हैं; एक और इनके अनुसन्धान, दूसरी और इन्हें अपने वर्तमान रंग क्रिया कलाप से युक्त (योग) किये बिना कहीं कुछ भी 'अपना' सम्भव नहीं है।

रंगमंच किसी भी देश और काल का क्यों न हो, वह एक परम्परा है, जीवित धारा है। उसके अर्थ, उसकी प्रकृति, उसके दृष्ट, धर्म को वैज्ञानिक रूप से, समूल रूप से देखना और जानना अनिवार्य है।

आधुनिकता की भारतवर्ष पर जो भयंकर मार पड़ी है, उसका यही रहस्य सूत्र है कि विकास का मापदण्ड केवल पश्चिम है। पश्चिम मायने आधुनिक; आधुनिक मायने जो अपनी नङ्ग से संबंधा मूलहीन होकर उनके मापदण्ड के अनुसार चले। इस से दो महत्वपूर्ण परिणाम और प्रभाव हम पर पड़े। हम इस परिणाम और प्रभाव को ही देखने, जानने में असमर्थ रहे। दूसरे, हमारा आत्मविश्वास स्वभावतः इस कदर खण्डित हुआ कि हम मानने को मजबूर हो गये कि जो प्राचीन और पारम्परिक है, वह पिछड़ी और मरी हुई चीज़ है। उस से हमारे वर्तमान का अधिक से अधिक इतना ही सम्बन्ध शेष है कि हम कभी-कभार उसका श्राद्ध और कर्मकाण्ड करके, 'पुरखों के नाम पर कुत्तों और कौओं को कुछ खिला दें। हमने अपनी पूरी परम्परा को, इसके फलस्वरूप, विचार और क्रिया, दोनों से काट दिया।

उपनिवेशवाद का एक अजब दिलचस्प असर हम पर यह रहा कि जो हमारी दुनिया थी, उसे कल्पित, 'धार्मिक' दुनिया साबित कर दिया गया। अंग्रेजों का जो हम पर राज आया, वही असल, वही वास्तविक दुनिया

पूर्व र

है, यत

दुर्बल

मूल्य-

रहा है

महत्ता

अपनी

उपनि

पिछड़ा

है, ता

कर स

इस

प्रचारि

धर्म

प्रच

है जो अ

उसका

तीय सन

स्वर, भ

धर्मप्रधा

हमारे

हमारे ना

में प्रकृति

प्रकृति के

हमारे

अन्तनिहि

शयकता है

ही सम्यक

मिलता है।

कृति ह

हेतु बनती

प्रकाशन अ

है, यह हमें हृदयंगम कराया गया। यह सिद्ध किया गया कि भारत की दुर्बलता और दरिद्रता उसके ऐतिहासिक पिछड़ेपन के कारण है। जिन मूल्य-व्यवस्थाओं को भारतीय समाज सनातन मान कर सदियों से जीता रहा है, उसे एक अविश्रुत अवस्था का सवून मानना पश्चिम की अपनी महत्ता प्रमाणित करने के लिए आवश्यक था। साम्राज्यवादी युग में पश्चिमी अपनी सभ्यता के प्रचार प्रसार को अपनी जिम्मेदारी मानते थे। अब उसी उपनिवेशवादी दिमाग के परिणामस्वरूप स्वतन्त्र (?) भारत अपने आप को पिछड़ा देश मान कर पश्चात्य सभ्यता, रीति-नीति को सहर्ष अपना रहा है, ताकि पश्चिम की पूंजी, विज्ञान, कला की सहायता से अपना विकास कर सके।

इसका नतीजा यह हुआ कि संस्कृति की एक अभूतपूर्व अवधारणा यहाँ प्रचारित होनी शुरू हुई।

धर्म के स्थान पर संस्कृति।

प्राचीन भारतीय सभ्यता के अनुसार मनुष्य एक धर्म के सहारे जीता है जो अविभक्त और शाश्वत है। प्राधुनिक मान्यता धर्म को नहीं मानती। उसका स्थान संस्कृति को देती है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्राचीन भारतीय सनातन परम्परा का महत्त्व मात्र ऐतिहासिक है। उसमें 'रंग' मूल्य, स्वर, भाव की खोज ही व्यर्थ है। यह पश्चिमी-प्राधुनिक धारणा हमारे धर्मप्रधान पुरुषार्थ व्यवस्था को मात्र अर्थ-काम व्यवस्था बना देती है।

हमारी धारणा में प्रकृति के प्रति शत्रुता, शोषण का भाव नहीं है। हमारे नाट्य में तभी प्रकृति मनुष्य का अभिन्न अंग है। पश्चिम के 'ड्रामा' में प्रकृति के प्रति बिल्कुल विपरीत विचार है। वहाँ ड्रामा रूपी दर्पण में प्रकृति के चेहरे के प्रति क्रूर मजाक (ट्रेजेडी) का भाव है।

हमारे भाव के अनुसार मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति में एक दिव्य बीज अन्तर्निहित है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के संस्कार की आवश्यकता है। दिव्य शक्ति की ओर उन्मुख भाव से चलना, कर्म करना ही सम्यक कृति है। हमारे नाट्य में एक ओर अभिनय से जिसका संकेत मिलता है, दूसरी ओर नाट्य के मूल सूत्र से — अवस्था अनुकृति नाट्यम्।

कृति ही संस्कृति है जो कालक्रम से प्रकृति-गर्भ से देवत्व के अवतार का हेतु बनती है। विद्यस्व का प्रकाशन ही मनुष्य का धर्म है। यही भाव प्रकाशन अभिनय का आधार है।

पर आज क्या स्थिति है ? रंगमंच का दो विरोधी हिस्सों में बंटवारा कर दिया गया है। भारतवर्ष का जो प्राचीन है वह वर्तमान का विरोधी है और जो वर्तमान है उसका अपने प्राचीन उत्स, अपनी परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक कल्पित धार्मिक दुनिया और एक वास्तविक दुनिया— भारत के चित्त के इस विभाजन को देखना और जानना कितना कठिन पर कितना महत्त्वपूर्ण है।

मेरा अनुभव हुआ कि रंगमंच अपने को, सबको देखने का एक विराट मंच है।

हमारा नाट्य, 'अवस्था की अनुकृति' है। पर यह अवस्था क्या है ? यह अनुकृति क्या है ? इन शब्दों के अर्थों का जब वैज्ञानिक अनुसन्धान किया तो आश्चर्यचकित रह गया। अवस्था का अर्थ है— अधिष्ठान अधिष्ठान का अर्थ है— आधार। हर अवस्था 'रूप' से अवस्थित रहती है इसीलिए अवस्था है। अवस्था का अधिष्ठान उसका रूपकत्व है। यह मैं नहीं, हमारा शास्त्र कह रहा है।

हमारी परम्परा यह कहती है कि 'वेश' (आहार्य) उसे कहते हैं, जो चित्तवृत्ति को व्याप्त करता है और अपनी प्रतीति द्वारा रस रूप में संक्रान्त होता है। जैसे— 'यह सांख्य का पुरुष कुछ नहीं करता', 'उसने मेरे लिए इस पूर्वरंग की निर्मित कर डाली', 'तथा इन दोनों में महत्ता इसकी अधिक है' आदि वाक्यों में प्रयुक्त पुरुष, पूर्वरंग, महत् शब्द क्रमशः सांख्य, नाट्य-शास्त्र तथा वैशेषिक दर्शन के विशेष शब्द हैं। इन शब्दों के शास्त्रीय और लौकिक प्रयोग एक-दूसरे को काटते नहीं, बल्कि एक-दूसरे को विस्तार देते हैं।

पर आज हो रहा है इसके ठीक विपरीत। आज आधुनिक खड़ा है प्राचीन के विरोध में, उसी तरह शास्त्र खड़ा है लोक के विरोध में, लोक खड़ा है शास्त्र के विरोध में। परस्पर विरोध का यही विस्तार हमारे वर्तमान रंगमंच के विविध क्षेत्रों, अंगों और पक्षों में विद्यमान है। निर्देशक नाटककार के विरोध में, नाटककार निर्देशक व अभिनेता के विरोध में, अभिनेता निर्देशक के विरोध में खड़ा है। रंगमंच को देखने वाला दर्शक देखने के ही विरोध में खड़ा है। ऐसी स्थिति में रंगमंच के विचार और प्रयोग दोनों पक्ष भयंकर संकट में हैं।

रंगमंच पलायन नहीं है, कहीं कोई भागना नहीं है। यह जीवन का अभिनय है। व्यक्ति से समाज का, समाज से सम्बन्धों की प्रतीति का यह एक 'महाभाव' है। इस से कम नहीं, इस से ज्यादा नहीं।

रंगमंच से जुड़े हुए प्रत्येक दिन अपने आप से कैसे कर रहा हूँ।

पिछले कुछ वर्षों में ध्यानन्द (रोहतक), पून रंगमंच पर कुछ व्याख्या नाट्य संस्था 'संवाद' में चाहें। पर इन सभी ज कि शब्द और अर्थ में भ्रम हम अपने पाठकों, दर्शकों तक पहुँचा नहीं पाते। हैं— जहाँ प्रयोग है, प्रयोग और प्रस्तुतीकरण

यह मेरी दर्दनाक प्रस्तुत फल है। सम्भव अनीपचारिक है, उतना सरन का आशीर्वाद मु पुस्तकें पढ़ने को देकर मु में श्रीमती कामिनी भट लाल का परम सहयोग करता हूँ, जहाँ से रंग जानने का मुझे अवसर

22 जनवरी 83

नयी दिल्ली

रंगमंच से जुड़े हुए प्रत्येक अंग को गायक, नर्तक, कवि की तरह प्रत्येक दिन अपने आप से यह प्रश्न करना होगा कि 'मैं क्या हूँ,' 'मैं यह कैसे कर रहा हूँ।'

पिछले कुछ वर्षों में मुझे शान्ति निकेतन, दिल्ली, कोल्हापुर, महर्षि दयानन्द (रोहतक), पूना, आगरा आदि विश्वविद्यालयों में नाटक और रंगमंच पर कुछ व्याख्यान देने का सीभाग्य मिला। उसके बाद दिल्ली की नाट्य संस्था 'संवाद' में रंगमंच के विषय में विधिवत् कुछ बातें कहनी चाहीं। पर इन सभी जगहों पर मैंने बहुत गहराई से यह अनुभव किया कि शब्द और अर्थ में भयंकर व्यवधान है। जो हम कहना चाहते हैं उसे हम अपने पाठकों, दर्शकों और श्रोताओं को बता नहीं पाते, अर्थात् उन तक पहुँचा नहीं पाते। सचमुच हम दो दुनिया में विभाजित कर दिये गये हैं— जहाँ प्रयोग है, क्रिया है, वहाँ विचार नहीं है। जहाँ विचार है वहाँ प्रयोग और प्रस्तुतीकरण नहीं हैं।

यह मेरी दर्दनाक स्थिति है, श्रोतों की हो, न हो। उसी दर्द का यह प्रस्तुत फल है। सम्भवतः आप महसूस करेंगे कि यह लेखन में जितना अनीपचारिक है, उतना ही आग्रही है। इसके लेखन में प्रोफेसर अवधकिशोर सरन का आशीर्वाद मुझ पर रहा है। भाई कमलेश ने कुछ बहुमूल्य पुस्तकें पढ़ने को देकर मुझ पर कृपा की है। इसकी प्रतिलिपि तैयार करने में श्रीमती कामिनी भटनागर ने बहुमूल्य सहायता की है। श्रीमती आरती लाल का परम सहयोग रहा है। साथ ही उन सब के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जहाँ से रंगमंच-थियेटर के क्षेत्र में कुछ भी कहीं से देखने जानने का मुझे अवसर मिला है।

22 जनवरी 83
नयी दिल्ली

लक्ष्मीनारायण लाल

खना और जानना

हेस्सों में बंटवारा
मान का विरोधी
परम्परा से कोई
तत्विक दुनिया—
कितना कठिन

का एक विराट

वस्था क्या है ?
निक अनुसंधान।
— अधिष्ठान
अवस्थित रहनी
कत्व है। यह मैं

उसे कहते हैं, जो
स रूप में संक्रान्त
उसने मेरे लिए
ता इसकी अधिक
: सांख्य, नाट्य-
शास्त्रीय और
सरे को विस्तार

धुनिक खड़ा है
विरोध में, लोक
तार हमारे वर्त-
न है। निर्देशक
के विरोध में,
ने वाला दर्शक
के विचार और

यह जीवन का
की प्रतीति का
।

रंगमंच
देखना और जानना

रंगमंच में दो शब्द हैं, पहला रंग, दूसरा मंच। रंग मायने वर्ण और वर्ण मायने रंग करना, रोशन करना, रंगना, अंकित करना, निरूपण करना।¹ वर्ण का एक अर्थ और भी है जो अक्षरों, अर्थ समूहों में अपने आप को अभिव्यक्त करता है और जिससे छन्द और रस बनते हैं जिन्हें मंगलों की करने वाली सरस्वती और गणेश की संज्ञा मिली है।² जीवन में जहाँ कहीं भी हमें उल्लास, उत्साह, सौन्दर्य दिखाई पड़ता है या अनुभूत होता है वहाँ भी हम कहते हैं कि 'वाह क्या रंग है!' प्रायः हम कहते हैं कि 'आप में बड़ा रंग है।' हम सुनते हैं कि 'आज कल आप के क्या रंग हैं।' रंग का अर्थ है उल्लास। प्रकृति जब उत्साह दिखाती है, मनुष्य जब उत्साह से भरपूर होता है तो उसमें एक विशेष रंग सहज ही उभर आता है। प्रकृति के उल्लास का पूर्ण विकास हम वसन्त में पाते हैं। मनुष्य जब तरुणाई में प्रवेश करता है तब उस अवस्था में उसकी पूरी प्रकृति में, उसके पहनावे, उसके उठने-बैठने, उसके साज-शृंगार, और उसके पूरे आचरण में एक रंग छलकने लगता है। कला के स्तर रंग से अभिप्राय है— एक आन्तरिक उल्लास, और एक सम्पूर्ण उत्साह।

मंच किसे कहते हैं ?

मंच उस स्थान, उस जगह को कहते हैं, उस मूमि को कहते हैं जहाँ पर वह रंग, या कोई रंग प्रगट हो रहा है। जहाँ वह उल्लास, जहाँ वह उत्साह प्रतिष्ठित हो रहा है, क्रियान्वित हो रहा है। हमारे यहाँ रंगमंच शब्द नहीं था, हमारे यहाँ रंगमूमि है। मंच शब्द पश्चिम के 'स्टेज' शब्द का सीधा अनुवाद है। 'स्टेज' में एक 'प्लेटफार्म' की व्यंजना है जिसमें यह रूप प्रगट होता है कि यह एक ऐसी जगह है जो जमीन की सतह से ऊपर उठा हुआ है।

हमारे यहाँ मंच की अवधारणा नहीं है बल्कि भूमि की अवधारणा है। भूमि ही समस्त प्रजनन, सृजन की अधिष्ठात्री है। हमारी संस्कृति में भूमि पूरे विराट नाटक, पूरी भूमा का आधार है। सम्भवतः इसी लिए भूमि को हमारे यहाँ माँ कहा गया है और इसकी पूजा का विधान है। चाहे कोई उत्सव हो, पर्व हो, धार्मिक अनुष्ठान हो, ऐसा उद्घोष अवश्य किया जाता है कि 'भूमि मेरी माता है, मैं भूमि का पुत्र हूँ।' इस तरह भूमि हमारी सांस्कृतिक चेतना का मूल तत्व है। यह समाज की विधायिका शक्ति है। इसी भूमि तत्व से ही नाट्य में 'दिक्' और 'काल' की व्यंजना है। हमारे यहाँ रंगभूमि की ही अर्थवत्ता है, इसका प्रमाण हमारी सम्पूर्ण लोक चेतना और रंगदृष्टि में व्याप्त है।

हमारी संस्कृति में जो शब्द कला के स्तर पर सर्वत्र व्यवहृत हुआ है, वह रंगभूमि है। रामायण में रंगभूमि शब्द अनेक स्थलों पर आया है जैसे—'रंगभूमि जब सिय पगुधारी.....।' 'रंगभूमि आये दोउ भाई, असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई।' इसमें भूमि शब्द जिस रूप में प्रयुक्त हुआ है उसमें यही संकेत है कि अब जिस भूमि पर सीता का प्रवेश हुआ है, इसमें एक रंग की सृष्टि सहज ही हो गयी। क्योंकि हमने देखा है कि भूमा का सारा रंग इसी भूमि पर ही दृष्टिगम्य है। सारा विराट खेल इसी भूमि पर ही घटित हो रहा है। भूमि का एक विशेष अर्थ नाट्य की दृष्टि से वह जगह है जहाँ सबकी दृष्टि लगी हुई है।

हमारी संस्कृति में 'थिएटर' की अर्थवत्ता में जिस शब्द का प्रयोग और व्यवहार हुआ है वह है नाट्य। नाट्य का बहुत बड़ा अर्थ हमारे यहाँ है—अध्ययन (श्रवण) द्वारा प्राप्त किया कोई ऐसा ज्ञान नहीं है, विद्या नहीं है, कला नहीं है, योग नहीं है, कर्म नहीं है जो इस नाट्य (नाटक) में न देखा जाता हो। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र के पहले ही अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति का जो विवरण दिया है उसमें नाट्य की सम्पूर्ण अर्थवत्ता के प्रति संकेत भरे पड़े हैं।

एक दिन नाट्य का मर्म जानने वाले भरत मुनि पूजा-पाठ से निवृत्त हो कर अपने पुत्र-पौत्रों से घिरे हुए अवकाश मना रहे थे। उसी दिन आत्रेय आदि तपस्वी और बुद्धिशाली मुनि लोग उनके पास आकर पूछने लगे—हे ब्रह्मन् ! आप ने जो वेदसम्मत नाट्यवेद का सम्पादन किया है वह क्यों और किसके लिए रचा गया है, उसके कितने अंग हैं ? उसका क्या प्रमाण है और उसका प्रयोग किस प्रकार किया जाता है ?

रंगमंच : देखना और

उनके उत्तर में बीतने और वैवस्वत अव्यवस्था छा गयी। लोभ, मोह, ईर्ष्या अर्थात् अज्ञान विताने लगे। इसी अज्ञान पर देव दानव, गन्धर्व, असुर, इन्हीं दिनों इन्द्र अर्थात् अज्ञान मिच्छामो दृश्य अर्थात् अज्ञान सुना भी जा सके और अज्ञान बनाइए जिसमें सब अज्ञानने वैदिक उत्सव स्वीकार करके और अज्ञान लगा कर चारों दिनों ऐसा नाट्य नामक अज्ञान होगी, जिसमें सुन्दर अज्ञान का भी अनुकरण करके अज्ञान और संसार के सभी अज्ञानोंने ऋग्वेद से अज्ञान अभिनय और अर्थवत्ता और उपवेदों से सम्पूर्ण नाट्य बनाया।

इस 'नाट्य' से अज्ञान नाट्य के अन्तर्गत (दूसरा) उसका प्रयोग करती अर्थात् वह अज्ञान है जिसे सब वर्णों के अज्ञान ले सकते हैं; (तीसरा) अज्ञान शिल्पों का प्रदर्शन है अज्ञान (जिसे वाचिक का अज्ञान पुराण, लोक से ही अज्ञान अर्थ और यश प्राप्त अज्ञान नाट्य, नट और अज्ञान से निकले हैं जो संस्कृत अज्ञान है। यही नाच सम्पूर्ण

उनके उत्तर में भरत मुनि ने बताया — स्वायम्भुव मनु वाला सतयुग बीतने और वैवस्वत मनु के त्रेतायुग का प्रारम्भ होने के समय संसार में ऐसी अव्यवस्था छा गयी कि सब लोग बुरे-बुरे काम करने लगे तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि में फँस कर किसी-किसी प्रकार सुख-दुःखमय जीवन बिताने लगे। इसी बीच लोकपालों से भली प्रकार पालित इस जम्बू द्वीप पर देव दानव, गन्धर्व, यक्षों आदि ने धावा बोल कर अधिकार जमा लिया। उन्हीं दिनों इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा से जा कर कहा — ऋडनीयक-मिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत् । (हम कोई ऐसा खेल चाहते हैं जो सुना भी जा सके और देखा भी जा सके।) अतः आप एक ऐसा पाँचवा वेद बनाइए जिसमें सब वर्णों के लोग सम्मिलित होकर आनन्द ले सकें, क्योंकि जितने वैदिक उत्सव हैं उनका आनन्द शूद्र नहीं ले पाते। यह प्रस्ताव स्वीकार करके और इन्द्र की विदा देकर तत्व जानने वाले ब्रह्मा ने समाधि लगा कर चारों वेदों का स्मरण करके संकल्प किया कि मैं इतिहास से युक्त ऐसा नाट्य नामक वेद बनाता हूँ जिससे धर्म, अर्थ और यश की प्राप्ति होगी, जिसमें सुन्दर उपदेश भरे होंगे, आगे होने वाले संसार के सब कार्यों का भी अनुकरण करके दिखाया जा सकेगा, सब शास्त्रों के तत्व भरे होंगे और संसार के सभी शिल्पों का प्रदर्शन हो सकेगा। यह संकल्प करके उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य या बोलने का अंश, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से शृंगार आदि रस लिये। इस प्रकार ब्रह्मा ने वेद और उपवेदों से सम्बन्ध रखने वाला सभी सुन्दरताओं से भरा हुआ यह नाट्य बनाया।

इस 'नाट्य' से जिन महत्वपूर्ण तत्वों का ज्ञान होता है वे हैं— (पहला) नाट्य के अन्तर्गत नाटक ऐसा खेल है जो देखा और सुना जा सके; (दूसरा) उसका प्रयोग किया जाता है, अर्थात् वह प्रयोगधर्मी है, प्रदर्शनकारी अर्थात् वह अभिनेताओं द्वारा मंच पर दर्शकों के सम्मुख खेला जाता है जिसे सब वर्णों के लोग समान रूप से देख सकते हैं और उसका आनन्द ले सकते हैं; (तीसरा) इससे सभी शास्त्रों के तत्वों का निरूपण और सभी शिल्पों का प्रदर्शन होता है; (चौथा) इसके चार प्रमुख अंग हैं — पाठ्य, (जिसे वाचिक कहते हैं), गीत, अभिनय और रस, इसमें इतिहास, पुराण, लोक से ही कथाएँ ली जाती हैं; (पाँचवा) इसके द्वारा लोग धर्म, अर्थ और यश प्राप्त कर सकते हैं।

नाट्य, नट और नाटक ये सभी शब्द (अथवा अवधारणाएँ) नट धातु से निकले हैं जो संस्कृत के नृत् (नाचना) धातु का प्राकृत या देशीय रूप है। यही नाच सम्भवतः भारतीय नाट्य का पूर्व रूप है जिसमें पहले नाच

या शरीर संचालन के साथ, हाथ तथा मुख के भावों का अभिनय होता रहा होगा और जिसमें फिर गीत और कथा भी जुड़ गये होंगे। इसी प्रकार नाट्य के पौराणिक आविष्कारों का नाम भी भरत पड़ गया होगा। भरत का भी अर्थ नट है। आज भी गुजराती में नट को 'भरोत' या भरत कहते हैं।

संस्कृत में नट, नृत् और णट् तीनों धातुएँ हैं जिनसे क्रमशः नाट्य, नृत्य और नृत्त शब्द बने हैं और इन तीनों के अर्थ भी भिन्न हैं। वाक्यार्थभिनय रसाभयं नाट्यम्। (पूरे वाक्य के अर्थ को अभिनय द्वारा प्रदर्शित करके रस उत्पन्न करने को नाट्य कहते हैं।) पदार्थभिनयं भावाभयं नृत्यम्। (केवल किसी शब्द के अर्थ का अभिनय करके उसका भाव प्रदर्शित करने को नृत्य कहते हैं।) नृत्तताललयाभयम्। (ताल और लय के साथ हाथ पैर चलाने को नृत्त कहते हैं।) इन तीनों शब्दों को एक-दूसरे का पर्याय नहीं समझना चाहिए।

नाट्य शास्त्र में, विशेष कर उसके प्रारम्भ में, जो छोटी-मोटी अनेक कथाएँ आती हैं उनमें एक मनोरंजक कथा यह है कि जब पहले पहल भरत ने महेन्द्रविजयोत्सव के अवसर पर दैत्यदानवनाशनम् नाम का नाटक खेला तब उसे देखने के लिए जो दैत्य और दानव आये थे उन्हें अपने पराभव की कथा सुन कर और देख कर बड़ा क्रोध आया और उन्होंने कुछ ऐसी माया रची कि नटों (अभिनेताओं) की बोली बन्द हो गयी। और उनके हाथ पैर जकड़ गये, वे पाठ भूल गये और नाटक में भारी उपद्रव हुए। इसका समाचार जब इन्द्र को मिला तब उन्होंने मार-पीट कर दैत्यों को नाट्य-शाला से बाहर निकाल दिया। तब इन्द्र सहित सारे देवता ब्रह्मा के पास गये और उनसे पूछा कि महाराज यह सब क्या हुआ, अब तो दैत्य लोग हमें नाटक ही नहीं खेलने देंगे, आप कृपा कर दैत्यों को समझाइए। तब दैत्यों को समझाते हुए ब्रह्मा ने नाट्य का स्वरूप समझाया कि नाट्य वह विद्या (वेद) है जिसमें दैत्य तथा देवता दोनों के भले-बुरे कार्यों, भावों और चेष्टाओं का समावेश है, अकेले तुम दैत्यों का या अकेले देवताओं का ही नहीं। नाट्य में तो तीनों लोकों के भावों का अनुकरण हो सकता है। इसके द्वारा अनेक प्रकार के तथा अनेक प्रकार की अवस्था वाले इस संसार की दशाओं का अनुकरण किया जा सकेगा और उत्तम, मध्यम, प्रथम सभी प्रकार के लोगों का चरित्र दिखाया जा सकेगा। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो नाट्य में न दिखाया जा सके। इस नाट्य में सब शास्त्र, शिल्प और अनेक कर्म एक साथ दिखाये जा सकते हैं।

सातों द्वीपों के निवासियों का अनुकरण नाट्य

नाट्य की व्याख्या किसी भी अवस्था के केवल प्रांगिक और वाक्य-करण भी होता है, इसी दो भेद बताते हुए दैत्य भिनयं तद्रूपारोपान्तु रूप है और उसमें नट लोग के समय दर्शक लोग रा भी कहते हैं।)

अरस्तू ने अपने क में कहा है कि ट्रेजेडी यूनान के दिग्गज गाने वाले अपना आध (दिमुम्ब) गाया करते कहने लगे और जब उ करके नाटकों की रचना लगे।⁹

यूनानी अथवा ग्रीक सम्बन्ध में भी एक का प्रकोप हुआ उस स अभिनय के द्वारा महान भी हो तब भी रोम के यह बहुत सम्भव है कि प्रादुर्भूत हुई हों। इस प्रभाव से ही 'फेबुला' प्रचलित हुआ और इस पद्यों के मेल से 'सतु' अन्य वाद्यों और अभि अटकलें ही हैं।¹⁰

प्राचीन भारतीय नाटक चिन्हों, हाथ नाट्यशाला बड़ी होती

सातों द्वीपों के निवासियों, देवताओं, राजाओं, ऋषियों और गृहस्थों के कार्यों का अनुकरण नाट्य कहलाता है।

नाट्य की व्याख्या भी उन्हींने यही की है— अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। किसी भी अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं। और इस नाट्य में केवल आंगिक और वाचिक अनुकरण ही नहीं, सात्विक और आहार्य अनुकरण भी होता है, इसी लिए साहित्य दर्पणकार ने काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद बताते हुए दृश्य काव्य का लक्षण ही यह किया है— दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्। (दृश्य काव्य अभिनय के लिए लिखा जाता है और उसमें नट लोग राम आदि का स्वरूप धारण करते हैं जिन्हें नाटक के समय दर्शक लोग राम आदि मानते हैं, इस लिए इस रचना को रूपक भी कहते हैं।)

अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में यूनानी नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा है कि ट्रेजेडी (थिएटर) उन स्तोत्रों के साथ उत्पन्न हुआ जो यूनान के दिग्गज सुस या बारबस देवता की उपासना में गाये जाते थे। ये गाने वाले अपना आधा शरीर बकरे की खाल से ढक कर उग्र स्तोत्र (दिमुम्ब) गाया करते थे। इस लिए उनके गीतों को 'त्रैगोदा' (अजापीत) कहने लगे और जब उन गीतों में नाटककारों ने अभिनेताओं का समावेश करके नाटकों की रचना की तब वे नाटक 'त्रैगोदी' या 'ट्रेजेडी' कहलाने लगे।⁵

यूनानी अथवा ग्रीक 'थिएटर' की तरह रोम के 'थिएटर' की उत्पत्ति⁴ के सम्बन्ध में भी एक कथा है कि जब 364 इस्वी पूर्व में रोम में महामारी का प्रकोप हुआ उस समय रोमवालों ने इत्रूरिया के लूदियों को नृत्य और अभिनय के द्वारा महामारी दूर करने का निमन्त्रण दिया। यह बात सत्य न भी हो तब भी रोम के नाटकों पर इत्रूरियावालों का बड़ा प्रभाव था और यह बहुत सम्भव है कि वहाँ की नाटकीय कृतियाँ फेसेनाइन पर्वों से ही प्रादुर्भूत हुई हों। इसी प्रकार अतेला के तास्तन नगर में सम्भवतः यूनानी प्रभाव से ही 'फेबुला अतेलाना' नाम का एक उटपटांग प्रकृति का नाटक प्रचलित हुआ और इत्रूरिया के लूदियों के बड़े-बड़े विनोद से भरे हुए फेसेनाई पर्वों के मेल से 'सतुटा' नामक नाटक विकसित हुआ जिसमें वंशों के साथ अन्य वाद्यों और अभिनय की शैलियों का प्रयोग हुआ। किन्तु ये सभी बातें अटकलें ही हैं।⁶

प्राचीन भारतीय 'नाट्य' मूलतः रीतिधर्मी अथवा रीतिबद्ध था। नाटक चिन्हों, हाथों, मुद्राओं और अभिनयों द्वारा खेले जाते थे। यदि नाट्यशाला बड़ी होती तो हाथों और आँखों की सूक्ष्म मुद्राएँ दूर बैठे दिखाई

नहीं दे सकती थीं। इस नाट्यशाला में मात्र 400 दर्शक बैठ सकते थे। प्राचीन भारतीय नाट्य इस दृष्टि से जनसाधारण का नाट्य नहीं था। ठीक इसके विपरीत यूनानी 'थिएटर' वृत्ताकार खुली रंगशाला में प्रतिष्ठित था जहाँ उनके नगर राज्य के सारे लोग आकर बैठ सकते थे। यूनानी नाटक अंकों में विभाजित नहीं होता था किन्तु संस्कृत नाटक अंकों में विभाजित होता था। समवेत गान अर्थात् 'कोरस' यूनानी नाटक का अनिवार्य अंग था। संस्कृत में ऐसी कोई बात नहीं थी। संस्कृत नाट्य में पद्य और गद्य का मिश्रण होता था। गद्य का प्रयोग सामान्य संवाद के लिए किया जाता था और पद्य का प्रयोग गहन भावनाओं और तीव्र प्रभावों के लिए। देवता, राजा, ब्राह्मण, मन्त्री, सेनापति और विद्वान संस्कृत बोलते थे। स्त्रियों में केवल राजनर्तकियों और गणिकाओं को ही संस्कृत बोलने का अधिकार था शेष स्त्रियाँ, बालक, द्वारपाल, सैनिक, निम्न श्रेणी के लोग प्राकृत में बात करते थे।

यूनानी 'थिएटर' के संकलनत्रय को संस्कृत नाट्य पूर्णतया नकारता है। यूनानी नाटक में काल, देश और कार्य की एकान्विति होती थी, किन्तु संस्कृत नाट्य-वृक्ष के चारों तरफ प्रासंगिक घटनाओं की लताएँ लिपटी हुई होती थीं। यूनानी थिएटर में जो नाटक खेलने योग्य थे उनमें कथावस्तु के संगठन पर अत्यधिक बल दिया जाता था, साथ ही भाषा के उच्चारण पक्ष पर अधिकाधिक बल दिया जाता था। इसके विपरीत भारतीय नाट्य में उस नाटक को अधिक महत्व दिया जाता था जिसमें मंत्र, सज्जा, वेशभूषा तथा अभिनय को मुख्यता मिलती थी। यूनानी ट्रेजेडी विरेचन सिद्धान्त पर आधारित थी। जिसका अर्थ दुःख और कष्टों द्वारा दर्शकों के मन के कुप्रभावों को शमित करना है। इसके विपरीत संस्कृत नाट्य रस सिद्धान्त पर आधारित है।

यूनानी ट्रेजेडी मनुष्य को नियति के पाश में बंधा हुआ देखती है, इसलिए ट्रेजेडी के थिएटर में आवेग की ज्वाला भभकती है तथा फुकारती हुई अभागे पात्रों को मृत्यु के गर्त में ले जाती है। इसके विपरीत भारतीय नाट्य में नायक हर कठिनाई पर विजय पा लेता है। उसके बाह्य जगत और आन्तरिक भावों का संघर्ष, उसके शरीर और उसकी आत्मा को खण्डित नहीं करता, तथा वह दर्शकों को किसी मानसिक संघर्ष या आत्मिक विषाद का भोक्ता नहीं बनाता। यूनानी थिएटर में प्रकृति मानव की विवशता और पीड़ा की उपेक्षा करती है। और कई बार उसका उपहास करती है। प्रकृति की यह हृदयहीन कठोरता ट्रेजेडी को

और घनीभूत कर के में प्रकृति मनुष्य की सहानुभूति के साथ सहै है। जब शकुन्तला कण्व जाती हैं, मोर उदास हो यहाँ प्रकृति मनुष्य का विरोधी है। मनुष्य के लिए

जिस भूमि पर हमारा रंगभूमि और यही हमारा कैसे देखें और कैसे जानें देर बाद कुछ अवतरित भूमिका में किसी अभिनेता के लिए हमारी आँखें लगे पूरे समाज के लिए बहुत

जो अभी मंच पर प्र हैं, उसके द्वारा हम एक अन्धकार में छिपा था। कि जिस मंच पर इतनी सिक धरातल पर 'ऊँच' हम किसी जगह को देख जाती है। इस विशिष्ट इसका एक अर्थ यह भी लगते हैं तब वह असाम उपलब्धि।

रंगमंच के प्रसंग में इ नीचा नहीं है, छोटा-बड़ा क्यों न हो। क्योंकि वह है। अतः रंगमंच का भी स्तर से 'ऊँचा' होना ब 'ऊँची' तभी होती है जब रंगमंच का प्रभावपूर्ण देखना चाहें और हर

शक बैठ सकते थे।
नाट्य नहीं था।
शाला में प्रतिष्ठित
सकते थे। यूनानी
त नाटक अंकों में
यूनानी नाटक का
। संस्कृत नाट्य में
न्य संवाद के लिए
र तीव्र प्रभावों के
ान संस्कृत बोलते
ही संस्कृत बोलने
क, निम्न श्रेणी के

नयानकारता है।
होती थी, किन्तु
ताएँ लिपटी हुई
नमें कथावस्तु के
के उच्चारण पक्ष
य नाट्य में उस
ा, वेशभूषा तथा
न सिद्धान्त पर
शकों के मन के
य रस सिद्धान्त

देखती है, इस-
गुंकारती हुई
परीत भारतीय
के बाह्य जगत
की आत्मा को
या आत्मिक
ते मानव की
बार उसका
दृजेडी को

और घनीभूत कर देती है। इसके विपरीत भारतीय नाट्य में प्रकृति मनुष्य की भावनाओं, कर्मों और संवेदनाओं को बहुत सहानुभूति के साथ सहेजती है एवं उसके हर्ष और विषाद में भाग लेती है। जब शकुन्तला कण्व ऋषि के आश्रम से विदा लेती है तो लताएँ मुग्ध जाती हैं, मोर उदास हो जाते हैं, भृगुशावक घास चरना बन्द कर देते हैं। यहाँ प्रकृति मनुष्य का ही एक अंग है। पश्चिम में प्रकृति मनुष्य की विरोधी है। मनुष्य के लिए प्रकृति के पजे वहाँ रक्त से सने हुए होते हैं।

जिस भूमि पर हमारी आँखें केन्द्रित हैं, हमारे समय में यही हमारी रंगभूमि और यही हमारा रंगमंच है। इस रंगभूमि और रंगमंच को हम कैसे देखें और कैसे जानें; यह हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। जहाँ थोड़ी देर बाद कुछ अवतरित होगा अर्थात् जिस रंगभूमि पर किसी पात्र की भूमिका में किसी अभिनेता का प्रवेश अर्थात् अवतरण होगा उसी को देखने के लिए हमारी आँखें लालायित हैं; इसलिए वह स्थान, वह काल, वह क्षण पूरे समाज के लिए बहुत अर्थवान हो जाता है।

जो अभी मंच पर प्रविष्ट हुआ है और जिसे हम प्रकाश में देखने लगे हैं, उसके द्वारा हम एक ऐसा ज्ञान हासिल कर ले चले हैं जो अभी तक अन्धकार में छिपा था। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह उभर रही है कि जिस मंच पर इतनी सारी आँखें लगी हैं वह जगह सबके लिए मानसिक धरातल पर 'ऊँची' हो जाती है। यह स्वाभाविक है क्योंकि जब हम किसी जगह को देखने लगते हैं तो स्वभावतः वह वस्तु विशिष्ट हो जाती है। इस विशिष्ट जीवन मंच पर हम विशिष्ट को ही देखते हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि जब हम किसी सामान्य वस्तु को भी देखने लगते हैं तब वह असामान्य हो जाती है। यही है देखने की प्रक्रिया और उपलब्धि।

रंगमंच के प्रसंग में इस तरह कोई स्थान, कोई वस्तु, कोई दृश्य, ऊँचा-नीचा नहीं है, छोटा-बड़ा नहीं है, वह विशिष्ट है चाहे जितना भी सामान्य क्यों न हो। क्योंकि वह वस्तु भावात्मक, आत्मिक स्तर से देखी जा रही है। अतः रंगमंच का भौतिक अर्थों में नहीं बल्कि नैतिक और भावात्मक स्तर से 'ऊँचा' होना बहुत आवश्यक है। अब प्रश्न यह है कि कोई वस्तु 'ऊँची' तभी होती है जब उसमें मूल्य और मर्यादाएँ अन्तर्निहित होती हैं। रंगमंच का प्रभावपूर्ण पक्ष यही है कि वह सच्चाई जिसे आप बार-बार देखना चाहें और हर बार देखने से आप अपने भीतर ऊँचे उठते जायें,

और निर्मल होते जायें। जहाँ जाकर दर्शक के मानस में निचाई या क्षुद्रता पैदा हो वह रंगमंच नहीं है। जहाँ 'जैना' उठने के लिए दर्शक के हृदय संस्कार पुष्ट हो सकें, उसमें 'भाव' जागृत हो सकें वह है रंगमंच।

बुनियादी तौर पर मानव प्रकृति के अनुसार रंगमंच एक खेल है। पश्चिम में भी यह 'प्ले' ही था। वस्तुतः यह खेल ही है, 'नाटक' या 'ड्रामा' की अवधारणा बाध की है। खेल में चार तत्व हैं— खेल की एक निश्चित जगह होती है; खेल को खेलने वाले कुछ लोग होते हैं; खेल के कुछ नियम और मर्यादाएँ होती हैं; इस खेल को देखने वाला एक समाज होता है।

जहाँ ये चारों तत्व किसी लक्ष्य-निष्ठा से जुड़ कर आते हैं वह खेल नहीं, कला हो जाती है। जहाँ इन चारों तत्वों में से कोई तत्व विलुप्त होता है, वह मात्र खेल ही रह जाता है, कला का दर्जा ले नहीं पाता। खेल का कला हो जाना तभी सम्भव है जब उसमें उन चारों तत्वों का एक आनुपातिक सत्व समाहित होता है। उदाहरण के लिए बच्चे का खेल मात्र खेल ही है क्योंकि इसके लिए उपरोक्त किसी तत्व का होना जरूरी नहीं है। इसलिए कहा जाता है 'छोड़िए, बच्चे का खेल है'; इस खेल को 'बचपना' कहते हैं। किन्तु जब रचनाकार खेल करता है, तब ऐसी भावमय सृष्टि का जन्म होता है जो सामान्य यानी दर्शक जन को 'भ्रमा' का सुख प्रदान करती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'खेल' में रंग कैसे आता है? इसके लिए कुछ अनिवार्य शर्तें हैं। पहली यह है कि खेलने के लिए कुछ लोगों को पहले मिलना होता है। किन्तु मात्र मिलने से ही खेल नहीं होता। उसके लिए दूसरी आवश्यक शर्त है सम्बन्धित होना। बिना सम्बन्धित हुए जो खेल खेलने लगता है वहाँ खेल में झगड़ा हो जाता है, और यदि खेल होता है भी तो उसमें कोई गुण या फल उत्पन्न नहीं होता। मेले-ठेले में खेल क्यों नहीं होता, मारपीट क्यों होती है, क्योंकि वहाँ लोगों की मात्र एक भीड़ होती है; इसलिए कि वहाँ कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं होता।

इस खेल में रंग कैसे उत्पन्न हो? रंग का अर्थ है उल्लास और उत्साह। इसके लिए आवश्यक है सामंजस्य अर्थात् खेल खेलने वाले का सामंजस्य, खेल से खेल देखने वाले का सामंजस्य। रंग पैदा होने की एक मुख्य शर्त है— रिश्ता कायम होना। प्रत्येक सहकर्मी का दूसरे सहकर्मी से रिश्ता और इस पूरे समाज का बृहत्तर समाज से रिश्ता मिल कर मंच पर एक नये रंग को उद्भासित करता है। इस तरह जब एक-एक के रंग में सबका रंग मिल जाता है, और सबका रंग एक रंग हो उठता है तब वास्तविक रंग की निष्पत्ति होती है। एक व्यक्ति का रंग घमण्ड होता है पर जब तमाम व्यक्तियों के रंगों का सम्मिलन होता है तो उससे जो एक चित्र उभरता

है, वह कला की दुनिया का एक शर्त है एक की दूसरे के प्रति प

चिन्दगी में रंग कब पैदा
सदस्य दूसरे के प्रति अनुकूल हो
रहता। यह सहज ही जिन्दगी
होता, या रंग तब बदरंग हो ज
अपने अहंकार में केन्द्रित हो
स्वयमेव विशिष्ट है; मैं दूसरे
विशेष रंग का यह व्यक्तिवाद
रंग में सारे रंग धूल मिल जा

मंच पर जहाँ रंग उभरने
है। पश्चिम में इसके लिए शा
महत्वपूर्ण शब्द है जैसे अवती
शब्द अभिनेता द्वारा मंच पर
देते हैं। ये 'अवतरण' के भाव
शाला में दर्शक समाज चुपचा
ग्रन्थकार में, उस अदृश्य में
है। इसकी व्यंजना क्या है?
प्रकाश है जिससे उस अन्धेरे
हमारी संस्कृति में नटराज, न
के कितने ही प्रसंग हमें मि
सन्दर्भ में जरा यह प्रसंग अप

अप प्रगट कृपाला परम
हुरषित महतारी मुनिम
लोचन अभिरामं तन घ
भूषन बनमाला, नयन
.....

ब्रह्माण्ड निकाया निरमि

कौशल्या रूपी मां-दर्शक
हुआ जिसे देख कर कौशल्या
अद्भुत रूप को देख कर वि
नहीं समझ पायीं केवल प्राय
रह गयीं। तब उस रूप ने

ई या क्षुद्रता
शक के हृदय
व।

क खेल है।

या 'ड्रामा'

क निश्चित

कुछ नियम

होता है।

खेज नहीं,

प्त होता है,

ल का कला

आनुपातिक

खेल ही है

। इसलिए

पना' कहते

ट का जन्म

करती है।

के लिए कुछ

को पहले

उसके लिए

ए जो खेल

होता है भी

न क्यों नहीं

भीड़ होती

है, वह कला की दुनिया का एक अतिवैचनीय रंग होता है। एक अन्य प्रमुख शर्त है एक की दूसरे के प्रति परस्पर अनुकूलता।

जिन्दगी में रंग कब पैदा होता है? जब परिवार या समाज का एक सदस्य दूसरे के प्रति अनुकूल होता है। इस अनुकूलता में कोई दबाव नहीं रहता। यह सहज ही जिन्दगी में एक रंग पैदा करती है। रंग तब नहीं पैदा होता, या रंग तब बदरंग हो जाता है या कच्चा रह जाता है जब एक रंग अपने अहंकार में केन्द्रित होकर यह आचरण करने लगता है कि मेरा रंग स्वयमेव विशिष्ट है; मैं दूसरे के लिए अपनी विशिष्टता का क्यों त्याग करूँ; विशेष रंग का यह व्यक्तिवाद रंग-विरोधी है। वह विराट रंग जहाँ एक ही रंग में सारे रंग घुल मिल जाते हैं परस्पर अनुकूलता से ही सम्भव है।

मंच पर जहाँ रंग उभरने को है वहाँ किसी अभिनेता का प्रवेश विहित है। पश्चिम में इसके लिए शब्द 'एन्ट्री' है। हमारे नाट्य में इसके लिए कुछ महत्वपूर्ण शब्द हैं जैसे अवतीर्य, अवतरति। 'अवतीर्य' और 'अवतरित' जैसे शब्द अभिनेता द्वारा मंच पर प्रवेश के अर्थ को बड़ी गहराई और व्यापकता देते हैं। ये 'अवतरण' के भाव को प्रगट करते हैं। कल्पना कीजिए कि रंग-शाला में दर्शक समाज चुपचाप बैठा हुआ है, मंच पर धुप्य अन्वेष है। उस अन्धकार में, उस अदृश्य में अभिनेता मंच पर प्रकाश के साथ प्रवेश करता है। इसकी व्यंजना क्या है? यही कि अभिनेता का प्रवेश ही एक ऐसा प्रकाश है जिससे उस अन्वेष में किसी सच्चाई का अवतरण होने जा रहा है। हमारी संस्कृति में नटराज, नटवर, ईश्वर, लीलाधारी प्रभु और 'अवतार' के कितने ही प्रसंग हमें मिलते हैं। अभिनेता के प्रवेश और 'एन्ट्री' के सन्दर्भ में जरा यह प्रसंग अपने रामचरित मानस में देखिए।

भए प्रगट कृपाला परम बयाला कौशल्याहितकारी।

हरषित महतारी मुनिमनहारी अद्भुत रूप बिचारी ॥

लोचन अभिरामं तन घनश्यामं निज आयुष भुजचारी।

भूषन बनमाला, नयन बिसाला, शोभा सिन्धु खरारी ॥

.....

ब्रह्माण्ड निकाया निरमित माया रोम-रोम प्रति बेव कहे।

कौशल्या रूपी माँ-दर्शक के सामने ब्रह्म का अवतरण इस विराट रूप में हुआ जिसे देख कर कौशल्या की आँखें नहीं मुदीं हालाँकि वह उस विशुद्ध अद्भुत रूप को देख कर विस्मित और चकित अवश्य होगयीं। वह कुछ भी नहीं समझ पायीं केवल आश्चर्यचकित हो ब्रह्म के उस विश्वस्वरूप को देखती रह गयीं। तब उस रूप ने अर्थात् उस विराट अभिनेता ने दर्शक रूपी माँ से

र उत्साह।

सामंजस्य,

मुख्य शर्त

रिश्ता और

क नये रंग

रा रंग मिल

क रंग की

जब तमाम

उभरता

कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहे ।

अर्थात् उस अभिनेता ने माँ को वह कथा सुनायी और समझाया फिर माँ को यह 'जानना' सम्भव हुआ कि पुत्र प्रेम क्या है और ब्रह्म का अवतरण पुत्र रूप में भी सम्भव है। दर्शक माँ के हृदय में ईश्वर कृपा से जब प्रेम और विश्वास उद्भासित हुआ तब वे बोलीं :

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूप ।

कीजै सिमुलीला प्रति प्रियलीला यह सुख परम अनूप ।

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूप ।

प्रवेश के स्तर पर और मंच पर अभिनेता के व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रति भारतीय दृष्टि को समझने के लिए यह प्रसंग बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें प्रवेश का जो पहला दृश्य है वह अवतरण है। दूसरा दृश्य जब वह माँ के कहने से शिशु होकर रोने लगते हैं। यह उस अवतरण की अपनी विशेष भूमिका है जो एक और जितना ही सत्य है उतना ही इसमें लीला भाव है। यह उदाहरण 'अवस्थानुकृतिनाट्यम' को सही ढंग से समझने के लिए महत्वपूर्ण उदाहरण है।

'अवस्थानुकृतिनाट्यम' में तीन शब्द हैं— अवस्था, अनुकृति और नाट्य। इसका अर्थ यह है कि अवस्था की अनुकृति ही नाट्य अर्थात् रंगमंच है। अवस्था का क्या अर्थ है? तदवस्था: अर्थात् उस दशा को पहुँचा हुआ जिसमें काल, दशा, क्रम, अन्तः और बाह्य पूरी स्थितियाँ सम्मिलित हैं। अनुकृति का क्या अर्थ है? अनुकृति से अभिप्राय है नकल नहीं, अनुकरण भी नहीं बल्कि सत्य या तथ्य के समानान्तर एक सृजन, एक वृत्ति।⁶ इसमें समानान्तर का बोध है। इस तरह अनुकृति का पश्चिम के 'इमिटेशन' से सर्वथा अलग भाव है। पश्चिम में 'इमिटेशन' 'एक्शन' का ही है। हमारे यहाँ अनुकृति पूरी अवस्था का है। 'इमिटेशन' आरोपण है; शारीरिक अवस्था की हू-बहू प्रतिकृति है।

इन दोनों भिन्न भावों को समझने के लिए रंगमंच के सन्दर्भ में हमें थोड़े और गहरे जाना होगा जहाँ 'अनुकृति' और 'इमिटेशन' की बुनियाद में दो भिन्न संस्कृतियों का धर्म भाव है। हमारे यहाँ यह दृश्य जगत नित्य और अनित्य दोनों तत्त्वों के भीतर से देखा जाता है। यह पूरा जगत पदार्थ नहीं है अपितु पदार्थ और भाव दोनों है। यह ब्रह्म की चैतन्य, नित्य सत्ता है। जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता तभी इसे नित्य कहा गया

है। यह बात सर्वथा भ्रमपूर्ण है। यह कह बैठते हैं कि ब्रह्म ही सत् में लोग यह जानने का कष्ट नहीं जो उसी की आत्माभिव्यक्ति, ब्रह्म की सच्चिई को जान लेना कहा गया है। अर्थात् एक ही चैतन्य का संज्ञान, शब्द द्वारा चेतना का ज्ञान, चेतना की पहचान वास्तविक स्वरूप। इस अर्थ में जगत के सन्दर्भ में असत्य उ परिवर्तनशील है, जो निरन्तर

इस तरह अवस्था की अनुकृति अवस्था के समानान्तर और लीला भाव रखना। तभी यह जुगुप्सा इन सब भावों को भी अनुकृति में आनन्द प्राप्त और अनित्य क्या है।

ठीक इसके विपरीत 'एक्शन' यह जगत एक यथार्थ पदार्थ और इस जगत के बीच में एक और 'सिन' का बोध है तो दूर इस जगत के प्रति पश्चिम के कि पदार्थ पर मनुष्य का आ

इसी का फल यह है कि व दूँत है, दूँत और दूरी के कारण मनुष्य दोनों के मध्य इतना दूरे को खत्म करने के लिए प्रत्येक वस्तु, पदार्थ या मनुष्य जबदस्त एकता, पूजा, उ हमारा ईश्वरीय भाव है उसे

हमारा अस्तित्व जितना हमारा नाट्य है। अभिज्ञान रखा गया है वह इसी अनित्य

है। यह बात सर्वथा भ्रमपूर्ण है, जब लोग संकर के अद्वैत को उद्धृत कर यह कह बैठते हैं कि ब्रह्म ही सत्य है और जगत मिथ्या है। तब इस सन्दर्भ में लोग यह जानने का कष्ट नहीं उठाते कि यदि ब्रह्म सत्य है तो यह जगत जो उसी की आत्माभिव्यक्ति, आत्मप्रकाश है वह असत्य कैसे है? पहले ब्रह्म की सच्चाई को जान लेना चाहिए। ब्रह्म को तीन सिद्धों वाला पशु कहा गया है। अर्थात् एक ही वस्तु के तीन आयाम हैं— शुद्ध चैतन्य, उस चैतन्य का संज्ञान, शब्द द्वारा उस चैतन्य का अनुभव कर लेना। अर्थात् चेतना का ज्ञान, चेतना की पहचान, चेतना को देख लेना। यह है ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप। इस अर्थ में यह दृश्य जगत भी पूरे का पूरा सत्य है। जगत के सन्दर्भ में असत्य उसे कहा गया है जो अनित्य है अर्थात् जो परिवर्तनशील है, जो निरन्तर बदलता रहता है।

इस तरह अवस्था की अनुकृति में दो भूल भाव अन्तर्निहित हैं— अवस्था के समानान्तर और समान सृजन, और, इस सृजन के प्रति सदा लीला भाव रखना। तभी यह सत्य है कि हमारे यहाँ काम, क्रोध, घृणा, जुगुप्सा इन सब भावों को भी रस की भूमिका से देखा गया। हम अवस्था की अनुकृति में आनन्द प्राप्त करते हैं क्योंकि हमें मालूम है कि इसमें नित्य और अनित्य क्या है।

ठीक इसके विपरीत 'एक्शन' के 'इमिटेशन' के पीछे तीन तथ्य हैं— यह जगत एक यथार्थ पदार्थ है, यह जगत एक ही बार के लिए है, 'गॉड' और इस जगत के बीच में एक दुर्लभ्य दूरी है, इस दूरी के भाव में एक ओर 'सिन' का बोध है तो दूसरी ओर प्रायश्चित्त का। वस्तु या पदार्थमय इस जगत के प्रति पश्चिम के आदमी का स्वभावतः एक ही रुख सम्भव है कि पदार्थ पर मनुष्य का आधिपत्य और वर्चस्व किसी तरह बना रहे।

इसी का फल यह है कि वहाँ के सम्पूर्ण नाट्य का अधिष्ठान संघर्ष है, द्वैत है, द्वैत और दूरी के कारण एक अबाध लड़ाई है। वहाँ प्रकृति और मनुष्य दोनों के मध्य इतना चौर और नफरत है कि दोनों के पंजे एक दूसरे को खत्म करने के लिए रक्तरेजित हैं। इसके विपरीत हमारे यहाँ प्रत्येक वस्तु, पदार्थ या मनुष्य में रंगमंच और यथार्थ के सन्दर्भ में एक जबर्दस्त एकता, पूजा, उल्लास और आनन्द का भाव है। हममें जो हमारा ईश्वरीय भाव है उसे ही हमने सदा 'रीयल सेल्फ', स्वभाव माना है।

हमारा अस्तित्व जितना मानवीय है अर्थात् जितना अनित्य है वही हमारा नाट्य है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के नाट्य में जो सम्पूर्ण नाटक रचा गया है वह इसी अनित्य के ही आचार पर खड़ा है। जहाँ अभिज्ञान-

देखना और जानना

है।

समझाया फिर माँ
ब्रह्म का अवतरण
रूप से जब प्रेम

और कृतित्व के
हृत्वपूर्ण है। इसमें
य जब वह माँ के
की अपनी विशेष
लीला भाव है।
समझने के लिए

अनुकृति और
ट्य अर्थात् रंग-
शा को पहुँचा
तियाँ सम्मिलित
कल नहीं, अनु-
न, एक वृत्ति।
के 'इमिटेशन'
ही है। हमारे
है; शारीरिक

सन्दर्भ में हमें
न' की बुनियाद
य जगत नित्य
ह पूरा जगत
चैतन्य, नित्य
कहा गया

नहीं है वहाँ नाट्य है। इस नाट्य का उद्देश्य ही है अनित्य से 'नित्य' का अभिज्ञान। अर्थात् अन्धकार से प्रकाश, असत्य से सत्य प्राप्त कर लेना।

पश्चिम में दो भावों से पदार्थ, यथार्थ को ग्रहण किया गया है। प्लेटो के शब्दों में 'मानवीय व्यापार को गम्भीरता से न लेना कोमेडी है' अर्थात् मानवीय व्यापार को गम्भीरता से लेना ट्रेजेडी है। पश्चिम में जो यह बंटवारा या दूरी है, जो पदार्थ दृष्टि एवं तर्क ज्ञान है इसी पर उनका पूरा 'थिएटर' खड़ा हुआ है। उनके 'थिएटर' के अन्तस्तल में जो एक संवर्ष है उसके भीतर वस्तुतः एक खोज, तलाश, जबर्दस्त प्यास और प्रयत्न है। हमारे यहाँ नाट्य के पीछे या जीवन के पीछे सर्वथा भिन्न दृष्टि है। यहाँ सब कुछ अपने वास्तविक रूप में विद्यमान है जिसके प्रकाश में सब कुछ सहज ही दिख जाता है। इसलिए हमारे यहाँ देखने और जानने पर अत्यधिक बल है; पश्चिम में खोजने, तलाशने और देखने पर बल है। उनके 'थिएटर' में 'जानना' तत्व है ही नहीं क्योंकि 'जानना' वह भी तर्क, कर्म और मानवीय आचरणों द्वारा इसका कोई अन्त है ही नहीं। इस बूढ़े और तलाशने का एक ही अर्थ है जो सोफोक्लीज के 'एडीपस' में है, शेक्सपियर के 'हेमलेट' में, इब्सन के 'घोस्ट' में है तथा प्रार्थर मिलर के 'डेथ ऑफ ए सैल्समैन' में है। शेक्सपियर ने 'प्ले' को एक पदार्थ कहा है। 'द प्ले इज द थिंग।' इसका सुन्दर उदाहरण 'हेमलेट' नाटक में है जहाँ हेमलेट अपने अभिनेताओं को थिएटर के बारे में, खास कर अभिनय के विषय में बता रहा है— '(नाटक) खेलने का प्रयोजन, जिसका उद्देश्य, जसा पहले था और आज भी है, दर्पण को, जो था और आज भी है, प्रकृति के सामने रख कर उसमें नैतिकता 'वर्च' को उसके चेहरे को दिखाना है; और उसकी वास्तविकता का मज़ाक करना है; और उस काल तथा समय, उसके शरीर, उसके आकार और उसके दबाव को दिखाना है।'⁸

हेमलेट के इस सन्देश में इंग्लैण्ड के एलिजाबेथ युगीन थिएटर का यह महत्वपूर्ण तथ्य प्रगट है कि वहाँ मानव जीवन तथा उसके कर्मों का सीधा, विशिष्ट आरोपण, 'इमिटेसन' है। ऐसा आरोपण जो संगीत की तरह खेला, बजाया जा सके। किन्तु शेक्सपियर का रंगमंच अपने काव्य तत्व और विशिष्टताओं के कारण आधुनिक युग को मान्य नहीं हो सका। निःसन्देह हेमलेट उस 'थिएटर' के प्रसंग में अपनी बात कह रहा है जो उसके समय का था जिससे उसका जीवन जुड़ा हुआ था, उसका मतलब एक 'सिम्बॉलिक' मंच से था जिसके पीछे उस समय के पारम्परिक मानवीय दृश्य का संकेत था, जिसका प्रतिनिधित्व एलिजाबेथ युगीन थिएटर स्वयं कर रहा था।

जब वह प्रकृति के आशय यही है कि एलिजाबेथ युगीन समय समाज, जीवन तथा मानवीय भी देश, जाति के इतिहास, जाति का थिएटर उस समाज का स्वभावतः हेमलेट का यथार्थ का न कोई स्वरूप है, न ही है। यह आज हमारे लिए ही है। इसलिए आधुनिक नाट्य संगीत की मिलावट से भ्रम और विवाद के तथ्यों से।

बीच पड़े आज के रंगमंच और जानना परमावस्था

हमारे यहाँ नाट्य का यथार्थ वहाँ आरोपण है तो प्रकृति अथवा अनुकृति शब्द का

अनुकृति और 'इमिटेसन' संगीत के उदाहरण स्वरूप प्रभाव शरीर पर पड़ता हृदय पर पड़ता है। जो है वही अन्तर 'इमिटेसन'

एलिजाबेथ युगीन नाट्य है तभी उसे दर्पण की संज्ञा और सदाचार को इतिहास 'प्रकृति' मनुष्य जीवन का 'नाट्य' एलिजाबेथ युगीन देख सका। उसने मनुष्य प्रकृति हमारे जीवन में साथ 'संगी' और 'संवा' के मध्य कोई सीमा रेखा दोनों में समान रूप से बोध के स्तर से यह संभव नहीं हो सकती, वहाँ संभव है। रस निष्पत्ति

तय से 'नित्य' का
न कर लेना ।

गया है । प्लेटो के
कोमेडी है' अर्थात्
पश्चिम में जो
न है इसी पर
अन्तस्तल में जो
स्त व्यास और
या भिन्न दृष्टि
जसके प्रकाश में
और जानने पर
ने पर बल है ।
' वह भी तर्क,
ही नहीं । इस
एडीपस' में है,
थर मिलर के
दार्थ कहा है ।
टक में है जहाँ
र अभिनय के
सका उद्देश्य,
आज भी है,
रे को दिखाना
स काल तथा
खाना है ।⁹

एटर का यह
मों का सीधा,
तरह खेला,
तत्व और
। निःसन्देह
उसके समय
सिम्बॉलिक'
य का संकेत
र रहा था ।

जब वह प्रकृति के सामने दर्पण रखने की बात कह रहा है, तो उसका
आशय यही है कि एलिजाबेथ युगीन थिएटर स्वयं वह दर्पण था जो उस
समय समाज, जीवन तथा संस्कृति के केन्द्र में प्रतिष्ठित था, पर किसी
भी देश, जाति के इतिहास में ऐसी महान घटना विरल ही है जब कि उस
जाति का थिएटर उस जाति के लिए दर्पण हो जाए । आधुनिक समय को
स्वभावतः हेमलेट का यह सत्य स्वीकार्य नहीं हुआ क्योंकि आधुनिक समय
का न कोई स्वरूप है, न ही कोई आकार है, न इस पर कोई निश्चित दबाव
है । यह आज हमारे लिए एक छिन्न-भिन्न, बिना किसी रूपाकार की वस्तु
है । इसलिए आधुनिक समय का रंगमंच एक और काव्य, संगीत और
गीत की मिलावट से अभित है, तो दूसरी ओर पत्रकारिता और वाद-
विवाद के तथ्यों से । प्रतीकात्मकता और पत्रकारिता, इन दो अर्थियों के
बीच पड़े आज के रंगमंच को एक अवधारणा, अहसास के स्तर पर देखना
और जानना परमावश्यक है ।

हमारे यहाँ नाट्य का सारा स्वरूप और अवधारणा इससे भिन्न है ।
वहाँ आरोपण है तो हमारे यहाँ अनुकरण है । अनुकरण शब्द कृति
अथवा अनुकृति शब्द का ही भाववाचक शब्द है ।

अनुकृति और 'इमिटेशन' के अन्तर को हम भारतीय और पाश्चात्य
संगीत के उदाहरण स्तर से देख सकते हैं । पाश्चात्य संगीत का सीधा
प्रभाव शरीर पर पड़ता है किन्तु भारतीय संगीत का सीधा प्रभाव हमारे
हृदय पर पड़ता है । जो अन्तर शरीर और भाव अर्थात् पदार्थ और भाव में
है वही अन्तर 'इमिटेशन' और 'अनुकृति' में है ।

एलिजाबेथ युगीन थिएटर में 'प्रकृति' एक विरोधी भाव से देखी गयी
है तभी उसे दर्पण की सीमा में ही देखने की बात आयी है । साथ ही नैतिकता
और सदाचार को इतने नंगे रूप में दिखाया गया है । किन्तु हमारे यहाँ
'प्रकृति' मनुष्य जीवन का एक अविभाज्य अंग है । इस लिए हमारा
'नाट्य' एलिजाबेथन थिएटर की तरह प्रकृति को दर्पण की सीमा में नहीं
देख सका । उसने मनुष्य और प्रकृति में कोई विभेद ही नहीं किया ।
प्रकृति हमारे जीवन में अपनी पूरी विराटता, व्यापकता और गहराई के
साथ 'संगी' और 'संवादी' रूप में आयी है । हमारे यहाँ जीवन और प्रकृति
के मध्य कोई सीमा रेखा ही नहीं है । क्योंकि हमारे यहाँ जड़ और चेतन
दोनों में समान रूप से एक ही चैतन्य, एक ही सत्य व्याप्त है । सौन्दर्य
बोध के स्तर से यह सत्य है कि जहाँ सीमाएँ हैं वहाँ रस की निष्पत्ति
नहीं हो सकती, वहाँ केवल संघर्ष और द्वन्द्व का रक्त रंजित खेल हो
सकता है । रस निष्पत्ति तो भूमा अनुभूति का ही प्रत्यक्ष बोध है ।

अब हम फिर अपनी उसी रंगमंच की बात पर वापस आते हैं।

कौन सा कर्म रंग लाता है? कर्म की दो कोटियाँ हैं— 'रचना' और 'करना'। वह कर्म जो 'पुरुष' द्वारा किया गया है वही रंग लायेगा किन्तु जो कर्म विकृत मनुष्य द्वारा किया जायेगा उसमें कोई रंग नहीं आयेगा। उसमें से केवल विपत्ति आयेगी। 'पुरुष' द्वारा किये गये कर्म को हमारे यहाँ 'शिल्पी' और 'कवि कर्म' कहा गया है। अर्थात् जो अहंकार से नहीं बल्कि संकल्प से कर्म करता है उसी को हमारे यहाँ 'पुरुष' संज्ञा मिलती है।

'नाटक', 'खेल' से जुड़ा व्यक्ति अभिनेता होता है, सर्जक होता है। कर्ता और सर्जक कौन है? इसका उत्तर हमारे यहाँ समस्त विद्याओं में दिया गया है। पाणिनि ने कर्ता को परिभाषित किया है— 'स्वतन्त्रः कर्ता।' पाणिनी का यह सूत्र कर्म, सृजन का रहस्य मन्त्र है। जो स्वतन्त्र नहीं है, जो विकारमुक्त नहीं है, वह सृजन नहीं कर सकता।

रंगमंच के सन्दर्भ में जब हमने अपनी बात शुरू की थी तो स्पष्ट किया था कि मंच वह जगह है जहाँ हमारी 'ऊँची' अर्थात् मानसिक स्तर पर उठी हुई भावनाएँ प्रकट होती हैं। दर्शक की निगाह के 'ऊँची' उठी हुई वस्तु को मंच कहते हैं। इसी तरह ज़िन्दगी में भी जब हम इस जीवन को जितनी 'ऊँचाई' से अपनाएँगे और देखेंगे तभी उतना रंग हमारे जीवन में पैदा होगा। और अगर हम जीवन में, जीवन के मंच में उसी की सतह पर अपने पूरे अहंकार के साथ 'बँधे' और 'धँसे' हैं तो वहाँ केवल, बेरंगापन होगा, सब कुछ फीका और उदास होगा। जीवन की तरह मंच पर जो कार्य हो रहा है, जो घटनाएँ घट रही हैं, उनके पीछे कितनी शक्तियाँ कार्यरत हैं, उस सम्पूर्ण अवस्था में, शुद्ध कृती भाव से 'घटना' और 'कर्म' को देखना और जानना रंगमंच है।

इस रंगमंच में इसका एक विशेष रंग भी है। वह रंग यह है कि हर काल का रंगमंच अपने आप में आत्म विनाश है। किसी रंगमंच की पुनरावृत्ति नहीं होती। यह रंगमंच वह भाषा है जिसकी लिखावट हवा में होती है। एक रंगमंच जहाँ तरह-तरह के कितने लोग प्रत्येक प्रदर्शन पर एकत्रित होते हैं और फिर न जाने कहाँ चले जाते हैं। यह रंगमंच वह कला है जिसकी शुरुआत नाटक के पहले प्रदर्शन से होती है, दूसरे दिन से ही इसमें कुछ मरने लगता है, और कुछ इसमें से बदलने लगता है।

रंगमंच शब्द के लोगों के दिमाग में अनेक अर्थ होते हैं। प्रायः लोगों के दिमाग में यह बात घर कर गयी है कि समाज में इसका कोई सही स्थान

नहीं है; इसका कोई निश्चित को देख कर इसके प्रति दूसरा रूप में कहीं नहीं होता, यह कहीं मुख्य रूप से नाटककार कहीं मात्र एक जूनून है, इसके

यह रंगमंच भी तरह-तरह कहीं इसके पीछे धन है, कहीं य तो कहीं मात्र मनोरंजन है। इन कहीं मारे-मारे फिरते हैं तो कहीं

रंगमंच बेहद निर्मम है। इ कोई इससे एक विचित्र प्रकार होकर जाता है। कभी-कभी ल देखे जाते हैं।

रंगमंच तमाम कलाकारों के कहीं चुनी-नी है, कहीं लड़ाई है समाज, देश, संस्कृति का ऐसा साथ उभर कर आती है। रंगम पहचान कर स्वीकार कर लेता कर देता है वही रंगमंच को होता है।

हैं।

रचना' और
गायेगा किन्तु
ही आयेगा।
हमारे यहाँ
नहीं बल्कि
ही है।

कर्ता
ओं में दिया
कर्ता।
नहीं है,

पष्ट किया
पर उठी
ई वस्तु को
को जितनी
न में पैदा
पर अपने
पन होगा,
कार्य हो
गर्भरत हैं,
को देखना

है कि हर
नी पुनरा-
में होती
एकत्रित
कला है
ही इसमें

लोगों के
नी स्थान

नहीं है; इसका कोई निश्चित उद्देश्य भी नहीं है। रंगमंच के पूरे स्वरूप को देख कर इसके प्रति दूसरा अर्थ यह उभरता है कि रंगमंच अपने समग्र रूप में कहीं नहीं होता, यह होता है टुकड़े-टुकड़ों में। इसके अस्तित्व में कहीं मुख्य रूप से नाटककार है, तो कहीं अभिनेता है, कहीं निर्देशक है, कहीं मात्र एक जुनून है, इसके सिवाय कुछ नहीं है।

यह रंगमंच भी तरह-तरह के उद्देश्यों के साथ जुड़ा हुआ होता है। कहीं इसके पीछे घन है, कहीं यश है, कहीं पागलपन है, कहीं राजनीति है तो कहीं मात्र मनोरंजन है। इन सारी सीमाओं पर नाटककार, अभिनेता कहीं मारे-मारे फिरते हैं तो कहीं आशा-निराशा से भरे रहते हैं।

रंगमंच बेहद निर्मम है। इसमें किसी वृष्टि की गुंजाइश नहीं है। हर कोई इससे एक विचित्र प्रकार की आशा ले कर आता है और प्रायः उदास होकर जाता है। कभी-कभी लहू-लुहान हो कर भी इसमें से लोग जाते हुए देखे जाते हैं।

रंगमंच तमाम कलाकारों के बीच एक जबर्दस्त आमना-सामना है। जो कहीं चुनौती है, कहीं लड़ाई है। जो भी हो रंगमंच अपने समय, काल, समाज, देश, संस्कृति का ऐसा दर्पण है जिसमें हर वस्तु अपने सारे रंगों के साथ उभर कर आती है। रंगमंच का जो यह विशेष रंग है इसे जो कलाकार पहचान कर स्वीकार कर लेता है और अपने आप को उसके प्रति समर्पित कर देता है वही रंगमंच को देखने वाला और जानने वाला प्रमाणित होता है।

सन्दर्भ

1. वणितं जयदेवेन हुरेरिदं प्रणतेन। — गीत गोविन्द ३
2. वर्णानामर्थसंघातां रसानां छन्दसामपि ।
मंगलानां च कर्तारो बन्दे वापीविनायकी ॥
श्री रामचरितमानस, बालकाण्ड, मंगलाचरण
3. अरिस्तोतलउस पेरि पोहितरबीस
4. प्राचीन ग्रीक और रोम के थिएटर ही पश्चिम के थिएटर की बुनियाद हैं जिस तरह से भारतीय रंगमंच की बुनियाद संस्कृत का नाट्य है ।
5. पंडित सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच १९६४, पृ० १५
6. तां सामवस्थां प्रतिपद्यमानम् । 1515
ईदृशीमवस्थां प्रपन्नोऽस्मि । श. ५, कु. २६
7. Christianity is able to dominate over matter precisely because in contrast to other religions—such as Hinduism, it is the most favouredly materialist of all the great religions.
W. Temple, *Nature Man and God*, p. 478.
The distance which in the modern mind exists between the subject and the object is a direct legacy of the Christian distance from the world.
Von Weizacker, *The History of Nature* p. 190.
8.The purpose of playing whose end, both at first and now, was and is, to hold as it were, the mirror up to nature; to show virtue, scorn her own image and the very age and body of the time his form and pressure.
Francis Fergusson, *The Idea of a Theatre*, 1954, p. 14.
9. क्रिमासिद्धौ स्वाग्च्छे विवसितो योऽर्थः स कर्तृसंज्ञः स्यात् । पाणिनि,
अष्टाध्यायी, प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ५४ ।

और जानना

बुनियाद हैं

११

because
it is the
religions.

between the
Christian

and now,
nature;
age and

14.

पाणिनि,

नाटक

और

नाटककार

रंगमंच कला की कलात्मकता का आधार बिन्दु क्या है, इसके बारे में पश्चिम में विस्तार से बातें हुई हैं। प्रसिद्ध आधुनिक रंगशिल्पी मोर्डन फ्रेम का एक संवाद का प्रसंग मूल्यवान है जिसे उसने थियेटर आर्ट का पहला संवाद कहा है। मोर्डन फ्रेम अपना एक नाटक देखने वाले रंगदर्शक से पूछता है कि 'थिएटर' की कला क्या है? दर्शक जवाब देता है कि अभिनय ही 'थिएटर' की कला है। निर्देशक फिर पूछता है कि अभिनय पूरी कला है या पूरी कला का मात्र एक भाग है। उत्तर में दर्शक उलट कर निर्देशक से पूछ बैठता है कि क्या आप के अनुसार रंगमंच कला का आधार नाटक है। निर्देशक जवाब में यह कहता है कि आज 'नाटक' या नाटककार कहने से जो एक चित्र हमारी आँखों के सामने उभरता है, वह तात्विक दृष्टि से न नाटक का चित्र है, न नाटककार का। क्योंकि रंगमंच कला में बुनियादी तौर पर जो पहला तत्व आया है वह है संगीत। संगीत से अभिप्राय है— गायन और नर्तन। इसके पीछे जो कारण रहा है, वह कोई देवी, धार्मिक या किसी प्रकार का कोई अनुष्ठान है।

जैसा हमने देखा है, नाट्यकला का आधार है देखना। इसलिए रंगमंच कला का यही प्रधान तत्व है। देखने के लिए प्रारम्भ में, जैसा कि हम सदा जीवन और जगत में देखते हैं, रंग और मुद्राएँ होती हैं। इस तरह रंगमंच कला की बुनियाद में नर्तन और नर्तक है। नर्तन में रंग और मुद्रा दोनों का सहज संयोग है। इसी नर्तन और नर्तक से नाटक तथा नाटककार का उदय हुआ। इसी ने आगे चल कर कथा और संवाद के सहारे जीवन का कोई दृश्य अपने आत्मसुख के साथ दर्शक समाज के सामने प्रस्तुत किया।

प्राणिमात्र की तरह ही किसी भी कला की उत्पत्ति अव्यक्त से ही व्यक्त चरातल पर होती है। इस उत्पत्ति में जो मध्यस्थ है अथवा जो माध्यम है, हम केवल उसी को देख पाते हैं। नाटक की उत्पत्ति के विषय में भारत के

नाट्य शास्त्र के प्रथम अध्याय में एक प्राचीन मत उपलब्ध होता है। इस अध्याय का नाम ही है 'नाट्योत्पत्ति'। इसमें एक कथा है। प्राचीन काल में कृतयुग में स्वायम्भुव मन्वन्तर की समाप्ति के पश्चात् त्रेतायुग में वैवस्वत मन्वन्तर का प्रारम्भ हो जाने पर जब संसार में सुख के साथ दुःख भी प्रविष्ट हो गया तब महेंद्र के साथ देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर निवेदन किया कि हमको ऐसा क्रीडानायक चाहिए जो देखे और सुने जाने के योग्य हो। यह जो वेद व्यवहार है सो यह तो शूद्र जाति के मनुष्यों द्वारा सुना नहीं जा सकता अतएव आप एक अपर वेद की रचना कीजिए जो सब वर्णों के काम का हो। ब्रह्मा जी ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करके योगस्थिति में स्थित होकर चारों वेदों का स्मरण किया और यह संकल्प किया कि मैं ऐसे पाँचवे वेद की रचना करता हूँ जो धर्मानुकूल, यशस्त्र, संग्रह और उपदेश सहित होगा, भावी जगत् के लिए सब कर्मों का पथ-प्रदर्शक, सब शास्त्रों के अर्थ से सम्पन्न तथा सब शिल्पकलाओं का होगा। यह नाट्यवेद चारों वेदों के अंगों से निर्मित हुआ। इसके लिए ब्रह्मा ने पाठ्य भाग को ऋग्वेद से, गीतों को सामवेद से, अभिनयों को यजुर्वेद से और रसों को अथर्ववेद से ग्रहण किया।

इस प्रकार पंचम वेद की सृष्टि करके ब्रह्मा ने इन्द्र से कहा कि मैंने इतिहास की रचना कर दी है। जो देवता चतुर और परिश्रमी हों उनके द्वारा इसका अभिनय किया जाना चाहिए। इन्द्र ने कहा कि देवता नाट्य-कर्म में अक्षम हैं। तब ब्रह्मा ने भरत मुनि को उनके सौ पुत्रों सहित इस कार्य के लिए नियुक्त किया। भरत मुनि ने प्रथमतः भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियों से युक्त अभिनय की तैयारी की, पर जब ब्रह्मा ने कैशिकी वृत्ति की योजना की आवश्यकता बताया तो भरत मुनि ने अप्सराओं की माँग की। ब्रह्मा ने कैशिकी वृत्ति के लिए उपयुक्त अप्सराएँ भरत मुनि को प्रदान कीं। गायन कार्य के लिए नारदादि गन्धर्वों की योजना की गयी। इतनी तैयारी के पश्चात् इन्द्रध्वज के उत्सव के समय सुरविजय नाटक का अभिनय किया गया। देवताओं ने अभिनय से प्रसन्न होकर भरत मुनि और उनके पुत्रों को अनेक उपहार प्रदान किये। चूँकि इस नाटक में दानवों की पराजय प्रदर्शित की गयी थी अतएव उन्होंने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की और अभिनय में विघ्न उत्पन्न करने प्रारम्भ कर दिये। इस पर इन्द्र ने क्रुद्ध होकर ध्वज को लेकर उसकी मार से असुरों के शरीरों को जर्जर कर दिया। इस प्रकार ध्वज से ही जर्जर की उत्पत्ति हुई। पर विघ्न फिर भी बने ही रहे। तब ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को नाट्यगृह बनाने का आदेश

नाटक और ना

किया। विश्व करने के लिए हमारी प्र उन्होंने पहले और लास्य व की।

अरस्तू के उसके पूर्णतय रूप के घटक स्वरूप का भी रूप अभिज्ञान नृत्य, नृत्य, गी है। यह भी जाते थे।

ये सारी परम्परा का है। कला चा स्थान है। इ तरह-तरह से प्रदर्शन अथवा यह था कि व अभिन्न अंग को समझते

भारत के समाज से, द उदाहरण के नाटक न के समाज भी की कृतियों का अपने वे हुआ अजीब बनाने में था है। वह अप की परवाह

होता है। इस प्राचीन काल में युग में वैवस्वत साथ दुःख भी जाकर निवेदन के जाने के योग्य ष्यों द्वारा सुना लीजिए जो सब स्वीकार करके और यह संकल्प नुकूल, यशस्त्र, कर्मों का पथ-प्रों का होगा। लिए ब्रह्मा ने को यजुर्वेद से

कहा कि मैंने अभी हों उनके देवता नाट्य-त्रों सहित इस सात्वती और प्रा ने कैशिकी अप्सराओं की सरत मुनि को ना की गयी। यय नाटक का सरत मुनि और में दानवों की तता प्रकट की त पर इन्द्र ने तो जर्जर कर षन्न फिर भी का आदेश

किया। विश्वकर्मा ने नाट्यवेद्यम की रचना की और उसमें नाटक की रक्षा करने के लिए सब देवता यथास्थान नियुक्त कर दिये गये।

हमारी प्राचीन परम्परा के अनुसार नाटक की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई। उन्होंने पहले इतिहास की सृष्टि की। शिव और पार्वती ने इसमें ताण्डव और लास्य की योजना की और विष्णु भगवान ने चारों वृत्तियाँ प्रदान कीं।

अरस्तू के मतानुसार किसी भी पदार्थ, कला प्रकार का स्वरूप हमको उसके पूर्णतया विकसित होने पर ही ज्ञात हो सकता है। पूर्णतया विकसित रूप के घटक तत्वों का अन्वेषण करते हुए हम उस पदार्थ के प्रारम्भिक स्वरूप का भी पता लगा सकते हैं। जैसे हम संस्कृत नाटकों के पूर्ण विकसित रूप अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अथवा मृच्छकटिकम् को लें, तो हमको उनमें नृत्य, नृत्य, गीत, अभिनय और संवाद के तत्व प्रधान रूप से उपलब्ध होते हैं। यह भी जाहिर है कि ये तत्व विविध प्रकार से मंच पर प्रस्तुत किये जाते थे।

ये सारी बातें प्राचीन काल की हैं। आज अनेक कारणों से हमें उस परम्परा का साक्षात् अनुभव नहीं प्राप्त है, यह हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। कला चाहे वह पाश्चात्य हो चाहे प्राच्य, दोनों में परम्परा का सर्वोच्च स्थान है। इस प्रसंग में शुक्रनीति से लेकर कुमारस्वामी तक यह बात तरह-तरह से मानी गयी है कि रचनाकार अपनी रचना में परम्परा का ही प्रदर्शन अथवा अनुकरण करता है। इस परम्परा बोध का सबसे बड़ा धन यह था कि कलाकार चाहे वह नाटककार हो या अभिनेता समाज का एक अभिन्न अंग था। वह अपने समाज को समझता था और लोग उसकी कला को समझते थे।

भारत के आधुनिक रंगमंच, नाट्य लेखन और नाटककार को अपने समाज से, दर्शक से, अपनी परम्परा से, अपनी रंगरुद्धियों से, विच्युति के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। इसीलिए आधुनिक नाटककारों के नाटक न केवल साधारण लोगों की समझ में नहीं आते, वरन् शिक्षित समाज भी आधुनिक अर्थात् पाश्चात्य कलाकारों के नकलची कलाकारों की कृतियों को नहीं समझ पाते हैं। ऐसा लगता है कि आधुनिक नाटककार अपने देश, समाज, लोक से अलग-थलग रहने वाला और पृथक पड़ा हुआ अजीबोगरीब व्यक्ति है। यह व्यक्ति नाटक लिखने या नाट्यकला बनाने में अपनी इच्छा के पाश्चात्य कलाकारों, नाटककारों की नकल करता है। वह अपने समाज, अपनी परम्परा, अपने दर्शक की रूचि और भावना की परवाह नहीं करता। आधुनिक भारतीय नाटककार इन प्रश्नों के सामने

स्वयं को कभी रखना ही नहीं चाहता। ये नाटककार अपने दर्शक समाज की स्मृति, परम्परा, आदर्श और उनके पूर्वजों के विश्वास की परवाह तक नहीं करते। ये घोर व्यक्तिवादिता और अहंकार के बशीभूत हैं।

हमारी आधुनिकता का शुभारम्भ ही उस दुर्भाग्यपूर्ण विन्दु से होता है, जब हमने पश्चिम के यथार्थवादी रंगमंच को स्वीकार कर लिया। भारतीय रंग परम्परा, दर्शक संस्कार, रंजन प्रवृत्ति, इन सबकी उपेक्षा कर हमने जब यह मान लिया कि नाटक मायने यथार्थ की नकल अर्थात् पश्चिम की नकल, तो यहीं से हमारे आधुनिक नाट्य का दुर्भाग्यपूर्ण चरण शुरू होता है। हमने पश्चिम के दुर्भाग्य को अनजाने ही अपना लिया।

सर्वत्र और सर्वत्र नाटककार अपने रंगमंच की सन्तान रहा है। आधुनिक नाटककार रंगमंच का पिता होने का अहंकार पालता है और नाटक लिखता है रचता नहीं। पहले नाटककार रंगमंच को उसी तरह समझता था जैसे कोई शिशु अपनी माँ को स्वीकार करता है और जानता है। आधुनिक नाटककार अहंकारवश बिल्कुल नहीं जानता कि उसके नाटक के अभिनेतागण जब मंच पर आयेंगे तो उनसे दर्शक क्या चाहेगा। अर्थात् उन अभिनेताओं के माध्यम से जो कुछ मंच पर प्रस्तुत होगा, उसे वह दर्शक समाज अपनी सम्पूर्णता में अपनी आँखों से 'देखना' चाहेगा? 'देखने' की अपेक्षा वह 'सुनना' कम चाहेगा, पर सुनना अवश्य चाहेगा, क्योंकि 'देखने' की इन्द्रिय का दूसरा छोर 'सुनने' की इन्द्रिय है।

प्राचीन नाटककार यह अच्छी तरह से जानता था कि आँख वह इन्द्रिय है जो शक्तिशाली होते हुए भी बहुत चंचल है। यह इन्द्रिय वह इन्द्रिय है जो अन्य सम्स्त इन्द्रियों को प्रभावित करती है। आँख ही हमारे स्थूल शरीर का सूक्ष्म शरीर है। इस तरह अभिनेता मंच पर जैसे ही प्रवेश करता है, तमाम मूखी, प्यासी, जिज्ञासु, लालायित आँखों की जोड़ियों के आमने-सामने होता है। ये आँखें एक साथ क्या और कितना देखना चाहती हैं, इसे वे नाटककार जानते थे। इसी लिए उनके संवादों में गति, कार्य-व्यापार और संगीत है तथा उनकी कार्यावस्थाओं में नृत्य और कार्यव्यापार की भावानुभूति है। इसी से लगता है कि हमारा प्राचीन नाटककार नर्तक की सन्तान था, कवि की सन्तान नहीं। ठीक इसके विपरीत आधुनिक नाटककार कवि की सन्तान है, रंगमंच की नहीं। आधुनिक नाटककार दर्शकों की आँखों में नहीं बसता बल्कि उनके कानों तक कुछ पहुँचाना चाहता है। इसका मतलब यह नहीं है कि कवि नाटक का बुरा रचनाकार होता है। या काव्य का मंच पर कुप्रभाव पड़ता है। नहीं, तात्पर्य यह है

नाटक और नाटककार

कि कवि कभी भी नाटककार नहीं होता है।

इस तथ्य को मंचकार को ध्यान में रखना है।

समस्त कलाओं में नाटक की कला है। इसका मतलब यह है कि नाटक जीवन की कोई घटना को मंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत करना है।

यही कि जीवन को मंच पर प्रस्तुत करना चाहते हैं। परन्तु नाटक को अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत करना परोक्ष कला है। यह जीवन का नाटक बनाना है। इसमें बाह्य अपेक्षा के सामने मंच पर प्रस्तुत करना है।

कविता की रचना कविता के शब्द कवि द्वारा प्रस्तुत होते हैं। नाटक में पात्र जो जीवन के व्यक्तियों को भी दर्शक सीधे नहीं देखते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि नाटककार की कला परोक्ष है। इसमें बाह्य अपेक्षा किन्तु नाटक रचना बहुत मुश्किल है।

नाटक रचने में नाटककार को अपनी कला ही है। इसी शर्त के साथ ही हो सकता है जिसे जीवन जहाँ है, उसी जहाँ नाटककार है। यही 'छिपी हुई है'... 'देखना' यह जो दोहरा कर्म है, काव्य और अन्य कलाओं में एक और विशेष स्थिति है। नाटककार द्वारा दर्शक तक पहुँचते

नाटककार अपने दर्शक समाज के विश्वास की परवाह तक नगर के वशीभूत हैं।

दुर्भाग्यपूर्ण विन्दु से होता है, स्वीकार कर लिया। भारत, इस सबकी उपेक्षा करने यथार्थ की तकल अर्थात् निक नाट्य का दुर्भाग्यपूर्ण ग्य को अनजाने ही अपना

व की सन्तान रहा है। आधु- हंकार पालता है और नाटक मंच को उसी तरह समझता है और जानता है। आधु- जानता कि उसके नाटक के दर्शक क्या चाहेगा। अर्थात् पर प्रस्तुत होगा, उसे वह आँखों से 'देखना' चाहेगा? , पर सुनना अवश्य चाहेगा, 'की इन्द्रिय है।

ता था कि आँख वह इन्द्रिय है। यह इन्द्रिय वह इन्द्रिय है। आँख ही हमारे स्थूल ता मंच पर जैसे ही प्रवेश यित आँखों की जोड़ियों के और कितना देखना चाहती नके संवादों में गति, कार्य- में नृत्य और कार्यव्यापार प्राचीन नाटककार नर्तक इसके विपरीत आधुनिक हैं। आधुनिक नाटककार कानों तक कुछ पहुँचाना नाटक का बुरा रचनाकार है। नहीं, तात्पर्य यह है

कि कवि कभी भी रंगमंच से नहीं आता। कवि अपनी आत्मानुभूति से आता है।

इस तथ्य को गम्भीरता से 'समझने' और 'जानने' की आवश्यकता है।

समस्त कलाओं में नाटक की कला पुनर्प्रस्तुतिपरक (रिप्रेजेंटेशनल) है। इसका मतलब क्या है? अर्थात् कहीं जीवन का दृश्य चल रहा है, जीवन की कोई घटना घटी है, हम उसी जीवन दृश्य को नाटक बना कर मंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत करते हैं। इसका अर्थ क्या है?

यही कि जीवन दृश्य का हम दो स्तरों पर अपनी कला द्वारा प्रस्तुति करना चाहते हैं। पहला, जीवन दृश्य का नाटक बनाना; दूसरा, उस नाटक को अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत करना। प्रगट है कि नाटक की कला 'परोक्ष कला' है। यह 'बनाने' और 'रचने' की कला है। पहले जीवन से जीवन का नाटक बनाना, दूसरे उस नाटक को अभिनेताओं द्वारा दर्शकों के सामने मंच पर प्रस्तुत करना।

कविता की रचना प्रक्रिया अपेक्षाकृत आन्तरिक या आत्मिक है। कविता के शब्द कवि के हृदय से होते हुए मुख से निकल कर सीधे श्रोता तक पहुँचते हैं। नाटककार के शब्द उसके नहीं, पात्रों के शब्द होते हैं; पात्र जो जीवन के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इन पात्रों के शब्दों को भी दर्शक सीधे नहीं सुनते, बल्कि अभिनेताओं के माध्यम से सुनते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि काव्य और कला के समस्त प्रकारों में नाटक और नाटककार की कला परोक्ष कला है। साथ ही वह पुनर्प्रस्तुतिपरक कला है। इसमें बाह्य अपेक्षाकृत अधिक प्रधान है तभी नाटक लिखना सरल है किन्तु नाटक रचना बहुत कठिन है। नाटक करना आसान है, नाटक रचना मुश्किल है।

नाटक रचने में नाटककार के अहंकार का पूर्ण विसर्जन जैसे एक शर्त है ही। इसी शर्त के साथ जैसे यह शर्त सहज ही जुड़ी हुई है कि नाटककार बही हो सकता है जिसे पहले स्वयं जीवन और जगत को 'देखना' आये। जीवन जहाँ है, उसी अवस्था के साथ जिसका एकाकार सम्भव हो जाये वही नाटककार है। यहाँ इस बोध में रचना की दृष्टि से एक गहरी बात छिपी हुई है... 'देखना' और साथ ही, उस 'देखने' का साक्षी भी हो जाना। यह जो दोहरा कर्म है, यही रचना का मूल आधार है।

काव्य और अन्य कला प्रकारों की तुलना में नाटक और नाटककार की एक और विशेष स्थिति है। वह यह है कि नाटक के शब्द अभिनेताओं द्वारा दर्शक तक पहुँचते हैं। नाटक के दृश्य अभिनेताओं, रंगकर्मियों द्वारा

दर्शक की आँखों में पहुँचते हैं जिसके लिए यह आवश्यक होता है कि वे शब्द, वे दृश्य, किस मंच से, किस रंग से, किन अभिनेताओं द्वारा किन दर्शकों तक पहुँच रहे हैं; यह व्यापक बोध नाटक और नाटककार की कला को बहुत ही संश्लिष्ट और तपोमय बना देता है। किन्तु यह भी सत्य है कि नाटक की परोक्षता ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति भी है।

रंगशाला और उस रंगशाला में बैठे हुए दर्शकों की स्थिति में ही नाटक के दृश्य, नाटक के शब्द की रचना और मंच पर उसके प्रस्तुतिकरण का सारा रहस्य छिपा हुआ है। जो इस सम्पूर्ण रहस्य को जानता है, वही नाटक रच सकता है। लोग आज भी नाटक 'देखने' जाते हैं और संगीत सुनने जाते हैं। ठीक जैसे मेला देखने जाते हैं, राजनेता का भाषण सुनने जाते हैं अथवा कवि सम्मेलन में लोग कविता सुनने जाते हैं। इससे सिद्ध क्या होता है? यही कि दर्शक समाज तो वही है पर हमारा नाटककार बदल गया है। दर्शक समाज अपनी वही मूखी, प्यासी, जिज्ञासु, लालायित आँखों के जोड़े के साथ रंगशाला में नाटक देखने उसी तरह जाते हैं, जिस तरह पहले उनके पुरखे जाते थे। पर स्थिति आज कैसी विकट हो गयी है कि उसे 'देखने' को विशेष कुछ नहीं मिलता।

मनुष्य क्या यथार्थ देखना चाहता है? जो वह जीवन में स्वयं देख रहा है। जो है उसे क्या देखना! 'देखना' वह होता है जो हम सामान्यतया नहीं देख पाते। 'देखना' वह है जो हमारी कल्पना में है, हमारे भीतर है, पर जिसे हम स्वयं न दृश्य रूप दे पाते हैं, न शब्द रूप। 'देखना' अर्थयार्थ का होता है, जिसे देख कर हम अपना यथार्थ बना लेते हैं। यही तो है दर्शक की रचना। मनुष्य अपनी रचना को ही देखना चाहता है।

नाटक— कार्य, शब्द, नृत्य, दृश्य आदि तत्वों का एक अद्भुत सन्तुलन है। किन्तु ठीक इसके विपरीत आधुनिक नाटक में यही सन्तुलन गायब है। आज के नाटक में या तो केवल शब्द ही शब्द हैं, या केवल दृश्य ही दृश्य हैं। यही कारण है कि जब हम शेक्सपियर का 'हेमलेट' और कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तलम् पढ़ते हैं तो हमें पढ़ने का पूरा सुख मिलता है। जब हम इन नाटकों को मंच पर देखते हैं तब हमें देखने का भी पूरा सुख मिलता है। पर आधुनिक नाटक को जब हम पढ़ते हैं तो हमें पढ़ने का भी पूरा सुख नहीं मिलता है वे अधूरे लगते हैं। जब हम उन्हें मंच पर देखते हैं तब भी वे अधूरे दिखते हैं। यह जो असम्पूर्णता, अधूरापन का बोध हमें आधुनिक नाटकों से होता है, इसके पीछे रहस्य यह है कि इन नाटकों में नाटकों के सारे तत्व ही नहीं। इनमें रंग, दृश्य, का ऐसा अभाव है कि हमारी मानसिक आँखें अतृप्त ही रह जाती हैं। हमारी अतृप्त आँखें जैसे हमारे

नाटक और नाटक

कानों में कहती हैं कि तत्वों को जोड़ो।

नाटक को रंग से जो पूरे रंगमंच को कलादृष्टि सम्पन्न ह एक बड़े रंगशिल्पी, भी प्रतीक्षा है। क संगीतकार नहीं।

यह विविध रंगमंच 'क्राफ्टमेन' उतार कर व्यवसाय में मंच के बहई, सज्जाकार और साधार है मंचनिर्मा की एक दृश्य व्याप का सिपहसालार है खोया हुआ कला निर्देशक अपने अभि व्याख्या करना चा निर्देशक का 'धर्म' और उसमें छिपे ल रंगमंच में स्थापित का कृती व्यक्तित्व अग्र नाटककार कला का कोई अस्ति नाटककार रचन मूल पदार्थ या तत्व

- क्रिया-व्यापार
- दृश्य ('सीन')
- आवाज ('वा

क्रिया व्यापार : दृश्य अर्थात् जो कुछ

कानों में कहती हैं कि इस नाटक में मुद्रा, दृश्य, रंग और नृत्य इन अपेक्षित तत्वों को जोड़ो।

नाटक को रंग से जोड़ने का घोर रचने का काम सच्चे कलाकार का है, जो पूरे रंगमंच को कलाकृति में बदल देता है। इस संदर्भ में नाटककार का कलादृष्टि सम्पन्न होना परम आवश्यक है। आधुनिक रंगमंच में एक से एक बड़े रंगशिल्पी, रंगनिर्देशक आये हैं, पर सच्चे पूरे कलाकार की अभी भी प्रतीक्षा है। कलाकार रंगमंच का कलाकार; चित्रकार, कवि, या संगीतकार नहीं।

यह विचित्र संयोग है कि आधुनिक रंगमंच; हर देश, हर भाषा का रंगमंच 'क्राफ्टमेन' की भीड़ से पटा हुआ है। रंगमंच को कला स्तर से उतार कर व्यवसाय के स्तर पर खड़ा कर दिया गया है। इसके उदाहरण में मंच के बड़ेई, लोहार, विजलीमैन, मेकअपमैन, दर्जी, रंगरेज, दृश्य-सज्जाकार और अभिनेता ही नहीं हैं, बल्कि इस पूरी फौज का जो सिपह-सालार है मंचनिर्देशक— जो नाटक की पूरी प्रस्तुति के साथ नाटक की एक दृश्य व्याख्या भी देने को वचनबद्ध है, वह जब तक केवल फौज का सिपहसालार है, अपने आप में रचनाकार नहीं, तब तक रंगमंच का खोया हुआ कला आधार पुनः प्राप्त होना सम्भव नहीं है। जब तक मंच निर्देशक अपने अभिनेताओं, विभिन्न 'क्राफ्टमेन' के जरिये ही नाटक की व्याख्या करना चाहेगा, तब तक वह पूर्ण निर्देशक नहीं बन सकेगा। निर्देशक का 'धर्म' है कि वह नाटक के कार्यव्यापारों, शब्दों, रंगों, रेखाओं और उसमें छिपे लय, ताल, मुद्राओं, भंगिमाओं को पकड़ कर उन्हें एक रंगमंच में स्थापित कर दे। इसी प्रसंग में नाटक की कला और नाटककार का कृती व्यक्तित्व का आधारभूत सत्य है। अगर नाटक ही कला विहीन है, अगर नाटककार स्वयं कलाकार नहीं, केवल 'क्राफ्टमेन' है, तो रंगमंच कला का कोई अस्तित्व ही सम्भव नहीं है।

नाटककार रचनाकार अथवा कलाकार कब, कैसे होता है? वे कौन से मूल पदार्थ या तत्व हैं जिनसे नाटक कला की सृष्टि होती है? वे तत्व हैं:

- क्रिया-व्यापार ('एक्शन')
- दृश्य ('सीन')
- आवाज ('वायस')

क्रिया व्यापार अर्थात् मुद्रा और नृत्य अर्थात् कार्य का गद्य और पद्य। दृश्य अर्थात् जो कुछ भी 'देखने' में आ सके— प्रकाश, रंग, वस्त्र, रंग और

रूप सज्जा, मंत्र दृश्य। 'आवाज़' माने बोले और गाये जाने वाले शब्द; वे सारी स्थितियाँ, घटनाएँ, व्यापार, जिन से आवाज़ की सृष्टि होती है। वे शब्द जो 'पढ़े' नहीं 'बोले' जाते हैं।

हर कला दूसरी कला से विशेष होती है। नाटक रचने की कला सबसे विशेष होती है। यह कला अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष (बाह्य), स्थूल पर ज्यादा निर्भर है। इसलिए इसकी मृत्यु वहाँ निश्चित है, जहाँ इसका आधार वायवी या हवाई है, जीवन नहीं।

नाटक लोगों को नहीं बनाता। लोग ही नाटक को बनाते हैं। इसलिए नाटक रचना के लिए आवश्यक है वे लोग; जीवन्त, स्वतन्त्र, उल्लास-मय, कर्मठ, उत्साही लोग; जीवन को प्यार करने वाले, जीवन को जीने वाले लोग। जीवन के बारे में सबसे अलग-थलग होकर केवल हवाई विचार करने वाले लोगों से नाटक का कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं। जहाँ जितना जीवन है, वहाँ उतना नाटक है। बीज में अग्र प्राण नहीं है, बीज में अग्र पूरा जीवन नहीं है तो प्रकट वृक्ष क्या होगा उसमें से ?

हमारे यहाँ नाटक रचने, नाटक करने को नाटक 'ग्रन्थन' कहा गया है। ग्रन्थन से ही सम्भवतः ग्रन्थ शब्द बना है। जो ग्रन्थियों से मुक्त है, वही ग्रन्थन है। ग्रन्थन तब तक सम्भव नहीं है जब तक चित्त में गाँठ है। ग्रन्थन सभी सम्भव है जब विविध बावों से विचलित हुई बुद्धि उन सब विवादों से ऊपर उठ कर निश्चल भाव से एक तत्व में (अवस्था में) स्थित हो जाये।¹ नाटक शब्द में ही वही संकेत है। जहाँ कोई अटक नहीं है वहाँ नाटक है।

आधुनिक नाटक में अटकाव अत्यधिक है। यह बुद्धि के अधीन है। बाद-विवाद ही इसका आधार है जैसे। यह बुद्धिवादी, व्यक्तिवादी नाटककार का लेखन है। यह नाटक के चरित्रों द्वारा नहीं, स्वयं अकेले नाटककार द्वारा तैयार किया हुआ है। ये लिखे हुए नाटक हैं, जिये हुए नाटक नहीं। नाटककार इस कदर अपनी ज़ौली, अपने विचार, अपने विश्वासों के पाशों में बँधा हुआ है कि इसमें रचना नहीं हो पाती। रचना के लिए स्वतन्त्रता, आत्मविश्वास, उदारता, मस्ती, निबन्धता और जीवन-रंग की जरूरत है, वह सब जैसे आधुनिक वर्तमान नाटककार में गायब है; नाटककार जब तक अपने नाटक के प्रत्येक चरित्र को अपने स्वयं से अलग उसका अपना स्वतन्त्र चरित्र-व्यक्तित्व नहीं दे सकता, वह नाटक कहीं से रचेगा ?

नाटक रचना में जितनी बड़ी बाधा नाटककार स्वयं है अपने आप में, अपने आप के लिए, उससे बड़ी बाधा है उसका अपना 'समय', 'लोग' और

उसका 'परिवेश'। व्यक्ति प्रमुख कारणों से जो छेबिगड़ते हैं, उनसे ऐसे नाटक जो साहित्य का अंग हैं।

वर्तमान रंगमंच में तक कर्ता का प्रत्येक चरित्र रहना नहीं होता। अग्र प्राण जीवित, साँस लेता कैसे अपने शब्द रूप में भी कर्तापुरुष नहीं है तो नाटक स्वतन्त्र और दूसरों के सारे चरित्र अपना अपना उसका नियामक अपने जीवित है।

नाटक की कथा जितनी होगी, उसके विचारों, उस नाटक के चरित्र, गुलाम होंगे। नाटक में अपनी भूमिका जीने और दृश्यत्व में प्राण और

रंगमंच की भाषा-संज्ञा है— क्रिया व्यापार। क्रिया

नाट्यरचना के विशेष

हम अपने जीवन व्यक्तित्व हर व्यक्ति की क्रिया के कार्य-कारण विस्तार हम अपने चारों ओर जैसे कार्य-कारण, क्रिया-अबाध गति से चल रहा है को रच रहा है। उन सब है। अब यही साधना या परस्पर विरोधी, समाप्त कैसे बने ?

वाले शब्द; वे
ट होती है। वे

की कला सबसे
स्थूल पर ज्यादा
इसका आधार

ने हैं। इसलिए
तन्त्र, उल्लास-
जीवन को जीने
केवल हवाई
नहीं। जहाँ
ही है, बीज में

कहा गया है।
मुक्त है, वही
ड है। ग्रन्थन
नव विचारों से
न हो जाये।
ही नाटक है।

नीन है। वाद-
दी नाटककार
ले नाटककार
नाटक नहीं।
वासों के पाशों
ए स्वतन्त्रता,
भी जरूरत है,
कार जब तक
पना स्वतन्त्र

पने आप में,
'लोग' और

उसका 'परिवेश'। व्यक्तिवादिता, प्रतियोगिता, असामाजिकता इन तीन प्रमुख कारणों से जो छोटे-छोटे असंख्य नाट्यदल परस्पर टूट-टूट कर बनते बिगड़ते हैं, उनसे ऐसे नाटक से क्या सम्बन्ध हो सकता है जो 'कला' है, जो साहित्य का अंग है।

वर्तमान रंगमंच में नाटक की रचना तब तक सम्भव ही नहीं है, जब तक कर्ता का प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक रचना के लिए स्वतन्त्र होना, स्वतन्त्र रहना नहीं होता। अगर वह स्वतन्त्र नहीं है, तो वह हमारी आँखों के लिए जीवित, साँस लेता कैसे दिखेगा और हमें कैसे साक्षात् अनुभूत होगा! जहाँ अपने शब्द रूप में भी नाटक वाक् क्रिया है वहाँ इसका रचनाकार अगर कर्तापुरुष नहीं है तो नाटक कहाँ से होगा? कर्तापुरुष का लक्षण है स्वयं स्वतन्त्र और दूसरों की स्वतन्त्रता के लिए हर क्षण सजगता। नाटक के सारे चरित्र अपना अपना स्वतन्त्र जीवन जी रहे हैं, यह तभी सम्भव है जब उसका नियामक अपने 'स्व' के आधीन है; 'स्व' के 'तन्त्र' में मर्यादित है, जीवित है।

नाटक की कथा जितनी बनावटी होगी, नाटककार द्वारा जितनी कल्पित होगी, उसके विचारों, लक्ष्यों को जितनी वहन करने वाली होगी, उतना ही उस नाटक के चरित्र, स्थितियाँ, दृश्य और क्रिया-व्यापार नाटककार के गुलाम होंगे। नाटक में जब तक नाटक के सारे चरित्र स्वतन्त्र नहीं होंगे अपनी भूमिका जीने वाले नहीं होंगे तब तक उस नाटक की कथा, क्रिया और दृश्यत्व में प्राण और जीवन्त गति कहाँ से आयेगी?

रंगमंच की भाषा-मुहावरा में अवस्था की अनुकृति का एक ही अर्थ है— क्रिया व्यापार। क्रिया व्यापार ही मंच पर का दृश्य है।

नाट्यरचना के विशेष सन्दर्भ में यह क्रिया-व्यापार क्या है?

हम अपने जीवन व्यापार से ही देखना शुरू करें! हम सबका अपना-अपना व्यक्तित्व हर वकन हमारी प्रत्येक क्रिया में संलग्न रहता है। एक अंग की क्रिया के कार्य-कारण हमारे भीतर भी हैं, हमारे बाहर भी। इसी का विस्तार हम अपने चारों ओर के समाज, परिवेश में पाते हैं। ध्यान से देखिए, जैसे कार्य-कारण, क्रिया-प्रतिक्रिया का एक विराट संदिलिष्ट यन्त्र (संसार) अबाध गति से चल रहा है। नाटककार स्वयं को, और नाटक में इतने चरित्रों को रच रहा है। उन सब की अपनी-अपनी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का संसार है। अब यही साधना या चुनौती है नाटककार की, वह इन सारी कई ओर परस्पर विरोधी, समानान्तर क्रियाओं का कर्ता और साक्षी दोनों एक साथ कैसे बने?

श्रुति में एक कथा है। एक अश्वत्थ वृक्ष है। उस पर दो पंछी बैठे हैं। एक अच्छी फल खा रहा है। दूसरा पंछी उस फल खाते हुए पंछी को 'देख' रहा है। नाटककार की जो दो आँखें हैं, यही दो पंछी हैं। एक कर्ता, एक द्रष्टा। एक करने वाला। दूसरा उसका साक्षी। जब तक कर्म का कोई साक्षी न हो, तक तक वह कर्म क्रिया कहाँ है ?

रंगमंच के नाटककार की रचना का मर्म और संकट यही है कि वह अपने आप से विमुक्त हो अपने चरित्रों की दुनिया का कर्ता हो, ऐसा स्वतन्त्र कर्ता जो प्रत्येक चरित्र की क्रिया को उसके ही अस्तित्व के भीतर से देखे, रचे और सब को दिखाये। क्रिया व्यापार का कर्ता मनुष्य है। यही पश्चिम के ड्रामा का 'चरित्र' है। और भारतीय नाटक का यही 'पात्र' है। ड्रामा के चरित्रों से ड्रामा की 'कहानी' बनती है। नाटक के पात्रों से नाटक की 'कथा' होती है।

चरित्र और पात्र, कहानी और कथा के अर्थों और अभिप्रायों में जो मूल अन्तर है, उसका आधार भारत और पश्चिम की दो विभिन्न जीवन दृष्टियों का अन्तर है। उस बुनियादी अन्तर को मनुष्य के प्रति दोनों संस्कृतियों की अवधारणा में हम देख सकते हैं।

ग्रीक नाटककार और ग्रीक दार्शनिकों ने मनुष्य को 'रेशनल एनीमल' अर्थात् बौद्धिक प्राणी माना था। आगे चल कर यूरोप में जब बाजार और उद्योग का बोलबाला हुआ तो मनुष्य औजार बनाने वाला पशु ही गया। 'औद्योगिक क्रान्ति' के बाद मनुष्य को पशु के स्थान पर 'इंडिविजुअल' अर्थात् 'व्यक्ति' की संज्ञा मिली।

हमारी संस्कृति में मनुष्य, ईश्वर का ही अंश है। यही नहीं, बल्कि सारा पशु जगत, प्राणिजगत और प्रकृति समेत समूचा दृश्य जगत उसी ईश्वर का अंश है। यही कारण है कि पश्चिम के 'ड्रामा' का मूलाधार संघर्ष है, द्वन्द्व है, मनुष्य-मनुष्य के बीच, मनुष्य और समाज के बीच, मनुष्य और प्रकृति के बीच। इसके ठीक विपरीत भारतीय नाटक की आत्मा 'रस' है।

पश्चिमी ड्रामा और भारतीय नाटक के प्रसंग में क्रिया व्यापार को समझना आवश्यक है। पश्चिम अध्यात्म को भी अपनी तर्क बुद्धि से समझना चाहता है, जब कि अध्यात्म जगत ध्यान और अनुभूति का विषय है। उसी तरह हमारी परम्परा के अनुसार क्रिया व्यापार धर्म-केन्द्रित है। पश्चिम की परम्परा के अनुसार क्रिया व्यापार अस्तित्व-केन्द्रित है। भारत में वस्तुओं, सम्बन्धों के सम्पूर्ण अनुभव में आने वाली समस्त अवस्थाओं के

मुख्यतः अनुभूति के पक्ष अन्वेषण पक्ष पर बल रखा। पश्चिम के ड्रामा बुद्धिग्राहक

भारतीय नाटक अपने 'मनुष्य' के दुःख कैसे दूर करने के उपायों को कैसे बदलाव की क्रिया व्यापारों के पीछे चला गया। अतिरिक्त चिन्ता न केवल चिन्तन का आरम्भ इस प्रकार का है। पूर्व के विचारों के कारण स्वयं उसके 'चरित्र' का

भारतीय नाटक के 'चरित्र' रहा है। इसलिए नाटक में साक्षात्कार पर इतना अधिक ध्यान और बाल्य प्रकृति का जवाब की गयी है कि 'मनुष्य' विपरीत ड्रामा में क्रिया रसमय अवस्थाओं में छिपी है कि हम उनके बौद्धिक समझ पाते। मानव व्यवहार स्वभावों, मनोभावों, विश्वास का सबसे बड़ा अधिष्ठाता मानव व्यवहार को जटिल से देख कर नहीं।

अब हम आगे दो

नाटक में पात्र है नाट्यकृति में उसका अर्थ क्रम से ग्रन्थित करते हैं। और सैकड़ों वर्षों से हम और बिना इनकी गहराई

भारत का नाटक 'रूप' है ? रूपक का मूल है 'रूप'

मुख्यतः अनुभूति के पक्ष पर बल दिया जाता रहा है। पश्चिम में इनके शब्दों के अन्वेषण पक्ष पर बल रहा है। भारत के नाटक जहाँ हृदयग्राह्य हैं वहाँ पश्चिम के ड्रामा बुद्धिग्राह्य हैं।

भारतीय नाटक अपने क्रिया व्यापार में इस 'विश्वस' से प्रेरित है कि 'मनुष्य' के दुःख कंसे दूर हों, और उन आन्तरिक स्थितियों और अवस्थाओं को कंसे बदला जाय जिनके कारण मनुष्य इतना दुःखी है। उन क्रिया व्यापारों के पीछे बाह्य परिवेश को नियन्त्रित करने तथा उन्हें बदलने की अतिरिक्त चिन्ता नहीं है। भारत के ही नहीं बल्कि एशिया के कर्म चिन्तन का आरम्भ इस प्रेरणा से होता है कि दुःख निवृत्ति ही प्रधान पुरुषार्थ है। पूर्व के विचारक यह भी मानते हैं कि 'व्यक्ति' के सुख-दुःख के कारण स्वयं उसके 'चरित्र' में ही विद्यमान हैं।

भारतीय नाटक के 'चरित्र' को 'पात्र' कहने के पीछे एक यह कारण भी रहा है। इसलिए नाटक में मानवीय अवस्थाओं से आत्मानुभूति के स्तर पर साक्षात्कार पर इतना अधिक बल दिया गया है। मनुष्य को उसकी आन्तरिक और बाह्य प्रकृति की सम्पूर्णता में देखने की अपेक्षा इसकी चिन्ता ज्यादा की गयी है कि 'मनुष्य' के कर्मों का परिष्कार कंसे हो? इसके विपरीत ड्रामा में क्रिया व्यापार अधिक जटिल, संश्लिष्ट यहाँ तक कि रहस्यमय आवरणों में छिपे हुए रहते हैं। वे रहस्यमय इसलिए लगते हैं कि हम उनके बौद्धिक आवेगात्मक नैतिक व्यक्तित्व को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। मानव व्यवहार की जटिलता वस्तुतः मनुष्यों के विभिन्न स्वभावों, मनोभावों, विश्वासों तथा आदर्शों की जटिलता है। जटिलता का सबसे बड़ा अविष्टान मनुष्य की विविध रूप चेतना है। फलतः हम मानव व्यवहार की जटिलता को भीतर से ही समझ सकते हैं, सिर्फ बाहर से देख कर नहीं।

अब हम आगे दो और बिन्दुओं पर विचार करेंगे। पहला बिन्दु है नाटक में पात्र और चरित्र की अवस्था और स्थिति। दूसरा बिन्दु है नाट्यकृति में उसका अपना स्वरूप, जिसे 'एक्ट' और 'अंक' स्तर और क्रम से ग्रन्थित करते हैं। ये दोनों बिन्दु ऊपर से देखने में अत्यन्त सरल हैं और सैकड़ों वर्षों से हम इन शब्दों का इस्तेमाल बिना इनका अर्थ जाने और बिना इनकी गहराई में गये करते जा रहे हैं।

भारत का नाटक 'रूपक' का एक प्रमुख भाग है। रूपक किसे कहते हैं? रूपक का मूल है 'रूप'। 'रूप' का अर्थ है आकार, जिसे अंग्रेजी में हम

'फार्म' कहते हैं। हमारी दृष्टि के अनुसार यह रूपाकार विराट जगत विभिन्न असंख्य स्तरों वाला है। इन सारे रूपों में वही एक अदृश्य, अरूप ईश्वर सूक्ष्म रूप से विद्यमान है, या हम यों कह सकते हैं कि यह रूपाकार दृश्य सृष्टि 'उसी' अदृश्य, अरूप की ही अभिव्यक्ति है। 'रूप' के इसी गहरे प्रसंग से हमारे नाटक में पात्र की अवधारणा की गयी है। मतलब मनुष्य रूप में हम सब खाली पात्र हैं, अपनी पात्रता अनुसार पात्र में से कर्म चरितार्थ होता है, दूसरों से सम्बन्धित होता है, और पात्र के कर्म और सम्बन्धों से भाव बनता है जिससे पात्र जो कर्मों और सम्बन्धों से अब तक रिक्त था, धीरे-धीरे भरता है। रूपक के पीछे व्यंजना है एक खाली पात्र या बर्तन की। इसी खाली पात्र में भाव या रस जब तक नहीं आयेगा तब तक रंग कहां से उत्पन्न होगा! जो पात्र की रिक्तता और उसमें भाव या रस का भरना देख कर अनुभूति कर लेगा वही सच्चा नाटककार होगा और उसका नाटक नाटक होगा।

पश्चिम की दृष्टि के अनुसार वहां पात्र नहीं है, वहां चरित्र है, यानी 'कैरेक्टर'। चरित्र के पीछे गहरा अर्थ है जो पश्चिम की जीवन दृष्टि का सबूत है। पश्चिम में मनुष्य के बारे में एक तो वहां के दार्शनिकों के विचार हैं जैसे अफलातून, अरस्तू से डार्विन आदि तक। ईसाई सन्तों के अनुसार मनुष्य की रचना ईश्वर की प्रतिकृति (इमेज ऑफ गॉड) में हुई है। 'इमेज' शब्द लैटिन शब्द 'इम' से बना है, इसी 'इम' से 'इमेज', 'इमेजिनेशन', 'इमिटेशन' आदि शब्द और भाव निकलते हैं। प्राचीन ग्रीक थिएटर में दो शब्द आते हैं—'माईम' और 'मिमीकरी'। पश्चिम के थिएटर में प्राचीन युग से लेकर मध्य युग तक हम अनेक नाट्य प्रकारों में 'माईम' और 'मिमीकरी' की परम्परा पाते हैं। इसमें अभिनेता किसी चरित्र की नकल करता है, और इस नकल में इस कदर भावातिरेक की सीमा पर पहुँच जाता है कि लोग उससे अभिमूढ हो जाते हैं। इसके पीछे दृष्टि यही है कि मनुष्य ईश्वर की स्वानुकृति की रचना (मैन इज दि प्रोडक्ट ऑफ दि सेल्फ इमिटेशन ऑफ गॉड) है। इस अभिनय या रंग प्रकार में आत्मविभोर होने का रहस्य यही है कि मनुष्य जब अपने 'बींग' (इमेज ऑफ गॉड) के प्रति जागरूक या संवादी होता है, वही आत्मसुख है। मनुष्य की उत्पत्ति ईश्वरीय है पर उसे इसकी प्रतीति नहीं होती। सत्य के प्रति अविश्वास, प्रतीति के प्रति अप्रतीति, अदृश्य के प्रति अन्धविश्वास; इसी में से निकला है पश्चिम का कैरेक्टर, 'चरित्र'। पश्चिमी धर्म के हिसाब से मनुष्य स्वर्ग या प्रभु के पास से पतित 'फालेन' जीव है। मनुष्य ईश्वरीय प्रतिकृति होने के बावजूद मिट्टी का बना

'मिड आफ क्ले' होने। उसमें जो द्वैत और प्र में हर वस्तु का विरोधी 'लाइफ' का विरोधी 'विरोधी 'बाडी', 'स्पी सैल्फ', फ्राइस्ट का विरोधी 'कलीफिकेशन का चरित्र इस प्रन्तविमानसिक बनावट में जो ईश्वर के देश प्रथम इस तरह उसके वित्त ड्रामा की भाषा में इस ही मनोवैज्ञानिक रूप में भी सतत लड़ाई गायन है: ३

स्वर्ग से धरती पर सारे भस्तरक दफनाये जाने को सारे इरोकी वृक्ष (यज्ञ में) यदि (तो आखिर) कि अवतरण हुआ था हम सब रत हैं संघ सब के सब हम सब रत हैं संघ ईश्वर 'धोरी' का हम सब रत हैं संघ सब के सब हम सब रत हैं संघ

पश्चिम में मनुष्य बनाया गया है। उसमें कभी भी विनष्ट हो

रूपाकार विराट जगत
 यों में वही एक अदृश्य,
 गों कह सकते हैं कि यह
 अभिव्यक्ति है। 'रूप' के
 व्यवहारणा की गयी है।
 ती पात्रता अनुसार पात्र
 होता है, और पात्र के
 गो कर्मों और सम्बंधों
 क के पीछे व्यंजना है
 भाव या रस जब तक
 गो पात्र की रिकतता
 नुमूति कर लेगा वही
 होगा।

वहाँ चरित्र है, यानी
 की जीवन दृष्टि का
 वहाँ के दार्शनिकों के
 तक। ईसाई सन्तों के
 न ऑफ गाँड) में हुई
 ती 'इम' से 'इमेज',
 लते हैं। प्राचीन ग्रीक
 कीकरी'। पश्चिम के
 नेक नाट्य प्रकारों में
 में अभिनेता किसी
 दर भावातिरेक की
 गते हैं। इसके पीछे
 बना (मैन इज दि
 अभिनय या रंग
 मनुष्य जब अपने
 दी होता है, वही
 'सकी प्रतीति नहीं
 ते, अदृश्य के प्रति
 करेक्टर, 'चरित्र'।
 से पतित 'फालेन'
 मिट्टी का बना

'भेड आफ क्ले' होने के कारण भ्रष्ट और 'पतनशील' है। 'पतन' के कारण
 उसमें जो द्वैत और आत्मविरोध पैदा हुआ है, उससे उसकी पूरी बनावट
 में हर वस्तु का विरोध उसके सामने प्रगट है जैसे 'गॉड' का विरोधी 'मैन',
 'लाइफ' का विरोधी 'डेथ', 'कम्फर्ट' का विरोधी 'सफरिंग', 'माइण्ड' का
 विरोधी 'बाडी', 'स्पिरिट' का विरोधी 'मैटर', 'सेल्फ' का विरोधी 'नान-
 सैल्फ', 'क्राइस्ट' का विरोधी 'एडम', 'एन्ड' का विरोधी 'मीन्स', 'रिज़रैक्शन' का
 विरोधी 'क्रसीफिकेशन', जीवन का विरोधी 'मीनिंग' आदि। पश्चिम के ड्रामा
 का चरित्र इस अन्तर्विरोध, फलतः संघर्ष का विशेष उदाहरण है। उसकी
 मानसिक बनावट में कहीं यह बात जमी हुई है कि वह एक ऐसा मनुष्य है
 जो ईश्वर के देश अथवा स्वर्ग से गिर कर पृथ्वी की मिट्टी में आ गया है।
 इस तरह उसके चित्त में 'मैन' और 'डिवाइन' के बीच एक सतत संघर्ष है।
 ड्रामा की भाषा में इस सतत संघर्ष का ही प्रतिरूप है—कॉरेक्टर। साथ
 ही मनोवैज्ञानिक रूप से उसके चरित्र में 'रेशनल' और 'इररेशनल' के बीच
 में भी सतत लड़ाई छिड़ी हुई है। पश्चिम के चरित्र का सम्भवतः यही
 गायन है: १

स्वर्ग से घरती पर अवतरित हुए हैं
 सारे मस्तक
 बफनाये जाने को
 सारे इरोकी वृक्ष समाप्त हो जाने हैं वन में
 (यज्ञ में) यदि आवाहन हुआ था केवल संघर्ष का
 (तो आखिर) किसका
 अवतरण हुआ था स्वर्ग से घरती पर
 हम सब रत हैं संघर्ष में
 सब के सब
 हम सब रत हैं संघर्ष में
 ईश्वर 'ओरो' का वरण करने वाले नहीं है अनेक
 हम सब रत हैं संघर्ष में
 सब के सब
 हम सब रत हैं संघर्ष में।

पश्चिम में मनुष्य के प्रति यह दृष्टि कि है वह मनुष्य, चरित्र मिट्टी से
 बनाया गया है। उसमें स्वभावतः यह आशंका घर कर गयी है कि वह
 कभी भी विनष्ट हो सकता है। जिसका विनाश एक बार हो जाता है, वह

फिर दोबारा बन नहीं सकता। दूसरी तरफ उसके प्रति यह भी कहा गया है कि मनुष्य में जो दैवी तत्व ('डिवाइन एसेन्स') है, अगर उस तत्व से उसका सम्बन्ध जुड़ता है, तो वह फिर वही 'आदम' बन सकता है, और यदि दैवी तत्व से उसका सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता तो वह 'शैतान' होता है। 'आदम' और मनुष्य के बीच अर्थात् स्वर्ग और पृथ्वी के बीच तभी उनके यहाँ प्रेतनियों की कल्पना की गयी है। ये प्रेतनियाँ मनुष्य से बार-बार दो बातें कहती हैं (मैकबेथ); वे आने वाली घटनाओं के बारे में संकेत करती हैं और दूसरे, उनके प्रति वे मनुष्यों को आगाह करती और बलि देने की सलाह देती हैं ताकि उनका कल्याण हो। किन्तु स्वभावतः मनुष्य नहीं मानता, वह मनमानी करने को मजबूर होता है। फलतः चरित्र एक ओर अपने ही विरुद्ध लड़ाई करता है और दूसरी ओर अपने चारों ओर की व्यवस्था, परिवेश के खिलाफ लड़ाई लड़ता है। 'कैरेक्टर' की इसी 'सच्चाई' से पश्चिम का 'ड्रामा' विकसित हुआ है। श्रेष्ठ 'ट्रेजेडी' नाटकों की यही आधार भूमि है।

'कैरेक्टर' के विकासक्रम में दो क्रमिक चरण हमें मिलते हैं। चरित्र का यह संघर्ष कि 'मैं कौन हूँ', इसी स्रोत से ग्रीक ट्रेजेडी और रोमनरीयर की ट्रेजेडी का प्रतिफलन हुआ है। रोमनरीयर के बाब उद्योग और टेक्नोलोजी का जो प्रभाव पश्चिम पर पड़ा, उससे उनका बुनियादी प्रश्न और संघर्ष 'मैं कौन हूँ' की जगह 'मनुष्य क्या है' हो गया। जाहिर है कि पहला प्रश्न जहाँ आध्यात्मिक तत्व लिये हुए था, वहाँ दूसरा प्रश्न समाजशास्त्रीय हो गया है। चरित्र के पहले चरण में जहाँ कठना और काव्य तत्व था वहाँ दूसरे चरण में चरित्र के साथ मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और तमाम बौद्धिक तत्व जुड़ गये। चरित्र में जिनका कुछ विवेक और अविवेक, बुद्धि और भावना, भीतर और बाहर, यथार्थ और 'एक्सटेंड', के बीच संघर्ष छिड़ा, इसी का सहज उदाहरण पश्चिम का सारा आधुनिक ड्रामा है।

इसके विपरीत पात्र के सन्दर्भ में भारतवर्ष में क्या हुआ यह जानना बहुत महत्वपूर्ण है। संस्कृत रंगमंच से ले कर इस देश के मध्ययुग तक के नाटकों में पात्र अत्रधारणा का प्रतिफलन है। पात्र की कल्पना वस्तुतः अध्यात्म और धर्म दोनों को साथ लेकर चली है। यह पूरा दृश्य जगत एक विराट पात्र है, जिसे कभी महाकाल नाम दिया गया है, कभी यक्ष, कभी विष्णु, कभी शिव, कभी कृष्ण आदि। इसी विराट पात्र में दुष्यन्त, शकुन्तला, विशाखदत्त, चाणक्य आदि पात्र आते हैं। सम्भवतः यही कारण था कि हमारे यहाँ रूपकों में पौराणिक कथा और पौराणिक पात्र ही लिये जाते थे। सामाजिक और यथार्थवादी पात्र नहीं। पात्र वस्तुतः सनातन हैं।

नाटक और नाटककार

'मिथ' की तरह लोक और मौजूद हैं। जो पात्र जिस है। और उन्हीं से दर्शक रूप

भारत का आधुनिक नाटक इसलिए उसमें न कहीं कोई पर चरित्र का अवतरण ही जो दृष्टि और वित्त (धर्म) है, इसलिए हमारी चरित्र घालमेल है। उदाहरण के संघर्षों की चरम सीमा पर की समाधि और पागलों की और विक्रमोर्वशीयम् के पुरु के 'कैरेक्टर' का तत्व।

अब हम इसी नाटक का करणें। 'अंक' माने 'गोद' और बीज और विन्दु में एक ओर दूसरी ओर नाटक के पूरे आत्मबलि माना जाता है। तक जो यात्रा जीवन में सम्पूर्ण होती है। अंक इसलिए जाना है। भाव कहीं छत्रके अंक में बाँधे रखना, जैसे माँ

ठीक इसके विपरीत एक (एक्ट से एक्शन)। 'एक्शन' इच इमिडेशन ऑफ एक्ट'। अलग हुआ तो उसमें अर्हकार बहुत वजनी पत्थर की तरह तरफ खींचता चला जा रहा

हमारा आधुनिक नाटक यात्रा है जो न पात्र हो पा समझ रहा है, न 'एक्ट' कर वह पश्चिम का है या भारत न ही अंक का रस।

मी कहा गया
उस तत्व से
नता है, श्रीर
न' होता है।
तभी उनके
वार-बार दो
त करती हैं
की सलाह
मानता, वह
अपने ही
व्यवस्था,
सचचाई' से
की यही

। चरित्र
शीयर की
नोलोजी
र संघर्ष
हला प्रश्न
श्रीय हो
या वहाँ
बौद्धिक
द्वि और
डा, इसी

जानना
तक के
वस्तुतः
त एक
; कभी
न्तला,
या कि
जाते
न हैं।

'मिथ' की तरह लोक और शास्त्र इन दोनों परम्पराओं में पात्र सर्वत्र मौजूद हैं। जो पात्र जिस अवस्था में है तदनुसार उसमें भाव, रस आता है। श्रीर उन्हीं से दर्शक रूपी पात्रों में भी रस का संचार होता है।

भारत का आधुनिक नाटक चूँकि अपनी परम्परा से पूर्णतः विच्छिन्न है इसलिए उसमें न कहीं कोई पात्र है, न कहीं कोई चरित्र। पात्र के स्थान पर चरित्र का अवतरण ही आधुनिक भारतीय नाटक है। चरित्र के पीछे जो दृष्टि और चित्त (धर्म) है वह हममें स्वभावतः पश्चिम के समान नहीं है, इसलिए हमारी चरित्र अवधारणा में पात्र और चरित्र का अजीबोगरीब घालमेल है। उदाहरण के लिए जयशंकर प्रसाद का स्कन्दमुक्त अपने संघर्षों की चरम सीमा पर पहुँच कर जब यह कहता है कि 'मुझे योगियों की समाधि और पागलों की स्थिति दोनों एक साथ चाहिए', इसमें कहीं एक और विक्रमोर्वशीयम् के पुरूरवा 'पात्र' का तत्व है, तो दूसरी ओर हेमलेट के 'कैरेक्टर' का तत्व।

अब हम इसी नाटक और ड्रामा के क्रम में अंक और 'एक्ट' पर विचार करेंगे। 'अंक' माने 'गोद' और 'एक्ट' माने 'क्रिया'। भारतीय नाटक अपने बीज और विन्दु में एक ओर 'गर्म' के भीतर से अपना जनन मानता है, दूसरी ओर नाटक के पूरे जीवन को भारतीय जीवन की तरह यज्ञ में धातमबलि माना जाता है। इन दोनों दृष्टियों से अंक अर्थात् 'गर्म' से गोद तक जो यात्रा जीवन में होती है वही यात्रा एक अंक से दूसरे अंक में सम्पूर्ण होती है। अंक इसलिए भी है कि भाव को उत्तरोत्तर रस की ओर ले जाता है। भाव कहीं छत्रके नहीं, पात्र कहीं टूटे नहीं, इसलिए नाटक को अंक में बाँधे रखना, जैसे माँ शिशु को अंक में बाँधे रखती है।

ठीक इसके विपरीत एक-एक 'एक्ट' की श्रृंखला से 'एक्शन' बनता है (एक्ट से एक्शन)। 'एक्शन' ही चरित्र है। 'एक्शन' ही 'ट्रेजेडी' है। 'ट्रेजेडी' इज इमिडेशन ऑफ एक्ट'। मनुष्य जब स्वर्ग से गिरा, अपने दैवी तत्व से अलग हुआ तो उसमें अहंकार ('आई', 'इगो') की वृत्ति विशेष पैदा हुई जो बहुत वजनी पत्थर की तरह चरित्र के 'मैं' के गले में बँधा उसे नीचे की तरफ खींचता चला जा रहा है।

हमारा आधुनिक नाटक इसी पत्थर से बँधे हुए व्यक्ति की एक ऐसी यात्रा है जो न पात्र हो पा रहा है न चरित्र। न वह पूरी तरह से अंक समझ रहा है, न 'एक्ट' कर पा रहा है। इसलिए वर्तमान नाटक में चाहे वह पश्चिम का है या भारत का, उसमें 'एक्शन' की गरिमा नहीं है और न ही अंक का रस।

सन्दर्भ

1. The reason why you are not given a work of art on the stage is not because the public does not want it, not because there are not excellent craftsmen in the theatre who could prepare it for you, but because the theatre lacks the artist of the theatre, mind you, not the painter, poet, musician.

E. Gordon Craig, *The Art of the theatre, the First Dialogues.*
in Eric Bentley (ed.) *The Theory of the Modern Stage.*
p. 118.

2. श्रुतिविप्रतिपत्त्या ते यदा स्यात्स्यति निवचला
समाधावचला वृद्धिस्तदा योगमवाप्स्यति ।

—गीता २। ५३

3. अफ्रीका का एक प्राचीन गीत ।

Who were coming from heaven to earth.
If all heads
Are destined to be buried with coffins,
All the iroke trees would have been exhausted in the forest.
If a divination was performed for struggle.
Who was coming from heaven to earth.
We are all struggling.
All of us.
We are all struggling
Those who cho se good oriare not many.
We are all struggling.
All of us.
We are all struggling.

र : देखना और जानना

k of art on the stage
t, not because there
aire who could pre-
cks the artist of the
musician.

the First Dialogues.
the Modern Stage.

—गीता २। ५३

ed in the forest.

रचना और करना

आज हम जीवन और रंगमंच दोनों में समान रूप से तीन प्रमुख तत्व देखते हैं—वेशभूषा, सज्जा और व्यवस्था। इसके आगे हम परिणाम के रूप में दो प्रवृत्तियाँ देखते हैं—उत्तेजना और भागना ('गति', 'स्पीड')। यह सब 'करने' ('डूइंग') के क्षेत्र में आते हैं। आज हमारे जीवन का प्रत्येक व्यापार चाहे वह किसी भी स्तर, क्षेत्र, धरातल का क्यों न हो वह 'करने' से भयंकर रूप से जुड़ गया है। उदाहरण के लिए विवाह का कर्म ले लीजिए। विवाह अपनी बुनियाद में एक अनुष्ठान है, एक ऐसा मिनन पर्व है जहाँ सृजन की अनन्त सम्भावनाएँ हाथ पसारे खड़ी हुई हैं। किन्तु आजकल विवाह के दृश्य को देख लीजिए। विवाह तय करने से लेकर विवाह सम्पन्न होने तक भागना, दौड़ना, धूम-धड़ाका, व्यस्तता अर्थात् केवल एक ही तत्व 'करना' उजागर हो कर रह जाता है। शेष जो इसका रचना और मंगल पक्ष है उसका दूर-दूर तक कोई पता नहीं रह जाता। प्रायः 'करने' का यही दृश्य हमारे आपसी रिश्तों और सम्बन्धों में भी झलकता रहता है। कर्म और आचरण पक्ष में यही तत्व कर्मकाण्ड का रूप धारण कर लेता है और वास्तविक कर्म का तत्व गायब हो जाता है।

मनुष्य मात्र के समस्त कर्मों और आचरणों को हम अगर ध्यान से देखें तो हम उन्हें दो वर्गों में बाँट सकते हैं—'रचना' और 'करना'। कर्म के ये दोनों पक्ष मनुष्य के कृतित्व पक्ष को ही उभारते हैं, इन दोनों पक्षों में दो बुनियादी भाव सक्रिय रहते हैं। रचना में ध्यान योग और संकल्प के तत्व प्रमुख हैं। तभी रचने के कर्म को कला का दर्जा प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जो रचा गया है वही कला है। 'करने' के पीछे बुद्धिमत्ता, चालाकी, व्यावहारिकता और सतर्कता के तत्व प्रधान हैं।²

'रचने' और 'करने' में जो अन्तर हमने किया है दरअसल वह दोनों को

स्पष्ट रूप से समझने के लिए किया गया है और मनुष्य की वृत्तियों में जो अन्तर दिखाया है वह भी केवल समझने के लिए किया है। मनुष्य एक सम्पूर्ण सत्ता है। उसमें 'रचने' और 'करने' के विभेद करना, शब्दों में पकड़ना बहुत कठिन हो जाता है। 'रचने' के पीछे जो मनुष्य में सत्ता कार्य-रत रहती है उसे हम उसकी स्वतन्त्रता, उसकी समर्थता और निज पर अपना स्वामित्व कह सकते हैं। ये 'रचना' की अनिवार्यताएँ हैं।

रंगमंच का सारा कार्य एक और सामाजिक कार्य है, दूसरी ओर सामूहिक, तीसरी ओर यह शिल्प प्रधान है। इसमें तमाम तकनीकी दक्षताओं का पूरा-पूरा सहयोग है। तभी यह प्रश्न यहाँ महत्वपूर्ण हो जाता है कि रंगमंच कला में कला के स्तर से रचना क्या है ?

प्रायः सभी कलाओं के पीछे संरक्षक की शक्ति है। हर देश, युग की कला के इतिहास से यह प्रकट है कि कला के विकास में संरक्षकों ने कितनी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ भ्रदा की हैं। आधुनिक काल में न राजा संरक्षक हैं, न धर्मगुरु संरक्षक है। यहाँ संरक्षण का कार्य केवल दो शक्तियों के हाथ में है— राज्यशक्ति और पूँजीशक्ति। इन परिस्थितियों में वर्तमान कला प्रायः 'करने' के पक्ष की ओर ज्यादा झुकी चली जा रही है। अर्थात् जैसे राज्य ने, सरकार ने कलाकार को आदेश दिया, या इच्छा की, तदनुसार कलाकार ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। ध्यान देने की बात यह है कि इस तरह यहाँ सृजन सम्भव नहीं है, मात्र 'करना' सम्भव है। किन्तु बड़ी गम्भीर बात यह है कि इस परिस्थिति में 'रचने' की जगह केवल 'करने' की जिम्मेदारी कलाकार पर ही आती है, संरक्षक (राज्य और पूँजीपति) पर नहीं।

इस तथ्य को गम्भीरता से समझना आवश्यक है। रंगमंच कला सीधे-सीधे संरक्षक और दर्शक समाज से जुड़ी हुई है। जो लोग रंगमंच को कला का दर्जा न दे कर केवल व्यवसाय का दर्जा देते हैं, सृजन का दर्जा न दे कर केवल शौक मानते हैं, हम यहाँ उनकी बात नहीं कर रहे हैं। हम उस प्रश्न और चुनौती के सामने अपने आप को खड़ा कर रहे हैं जहाँ रंगमंच एक कला है; जहाँ रंगमंच शौक नहीं, सृजन है; जहाँ रंगमंच मनोरंजन के साथ ही साथ आत्मरंजन भी है। इस सन्दर्भ में संरक्षक चाहे जैसा हो; राज्य, पूँजीपति या दर्शक समाज; उसके संरक्षण के भीतर ही हमें अपने कर्म को करना है, यह तथ्य है। कलाकार के दो संरक्षक होते हैं— बाहरी संरक्षक और आन्तरिक संरक्षक। जिस क्षण हम बाहरी संरक्षण से अपने कर्म के प्रति वचनबद्ध होते हैं, यानी उसके प्रति अपना

दायित्व निभाने का फै
क्षक बनते हैं। जहाँ
नहीं है केवल 'कर
'दिहाड़ी' कहते हैं।
दिहाड़ी।' मजदूर
मनोभाव का ही अ
बना देता है अन्य
यहाँ कर्ता, कलाकार
है— उसकी अपनी प
जिस क्षण कला
वहीं से उसके संकल
अन्तर उस क्षण स
रहा है, जैसे मिट्टी
वह उस कृति को पूरा
जाता है। संकल्प श
मायने हैं— बराब
कर्म के साथ, रच
सत्त्व तभी सम्भव है
के क्षेत्र में स्वभा
जुड़ता है तभी वह
है तो उसके साथ
विषयों से हटा कर
रिक्त कोई अन्य
साधना कहा गया
के बारे में मना
कहा है कि जब इस
अपने मन को (इ
चाहिए अर्थात् एक
के सिवाय चित्त क
किसी भी वस्तु व
अनुसार कर्म में सं
में यहाँ तक कहा
भी नहीं त्यागना
न किसी दोष से अ

दायित्व निभाने का फैसला करते हैं उसके बाद हम अपनी रचना के स्वयं संरक्षक बनते हैं। जहाँ यह आत्मसंरक्षण या संकल्प नहीं है, वहाँ 'रचना' नहीं है केवल 'करना' है जिसे हम आज की चलताऊ भाषा में 'दिहाड़ी' कहते हैं। मतलब 'जैसी दिहाड़ी, वैसा काम, जैसा काम वैसी दिहाड़ी।' मजदूर और कलाकार का अन्तर कर्म के पीछे छिपे मनोभाव का ही अन्तर है। मनोभाव ही किसी कार्य को 'रचना' बना देता है अन्यथा उसी कार्य को मात्र 'करना' कर देता है। यहाँ कर्ता, कलाकार के चरित्र की दो विशेषताओं की ओर संकेत है—उसकी अपनी पात्रता, तथा उसका धैर्य और संकल्प।

जिस क्षण कलाकार किसी कार्य को करने के लिए वचनबद्ध होता है, वहाँ से उसके संकल्प का शुभारम्भ होता है। कार्य और कर्ता दोनों में अन्तर उस क्षण समाप्त हो जाता है। जिस माध्यम से वह कार्य करने जा रहा है, जैसे मिट्टी, लोहा, धातु, लकड़ी, या अभिनेता, जिनके द्वारा वह उस कृति को पूरा करने चला है, उन सबसे वह कलाकार एकरूप हो जाता है। संकल्प शब्द में दो अंश हैं—'सम्' उपसर्ग, कल्प धातु है। सम् के साथने हैं— बराबर, समता, एकता और कल्प अर्थात् क्रिया, रचना। कर्म के साथ, रचना के साथ संकल्प और संकल्प के लिए धैर्य का तत्व तभी सम्भव है जब कर्ता का स्वभाव उनके साथ जुड़ जाता है। कला के क्षेत्र में स्वभाव ही 'स्वधर्म' है। कोई कर्म जब 'स्वधर्म' से जुड़ता है तभी वह रचना हो जाता है। जब स्वधर्म से कोई कर्म जुड़ता है तो उसके साथ ही कर्ता का चित्त सहज ही इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटा कर उस कर्म के मर्म से जोड़ता है, जहाँ उस कर्म के अतिरिक्त कोई अन्य क्रिया सम्भव नहीं होती। इसी रचना प्रक्रिया को साधना कहा गया है। कठोपनिषद में यमराज ने नविकेता को कर्म के बारे में मनातन तत्व का ज्ञान दिया है,³ यमराज ने स्पष्ट कहा है कि जब इस प्रकार की कर्म साधना में कोई भी संलग्न हो तब उसे अपने मन को (इन्द्रिय चांचल्य) ज्ञान स्वरूप बुद्धि में विलीन कर देना चाहिए अर्थात् एकमात्र विज्ञान स्वरूप निश्चयात्मिका बुद्धि की वृत्ति के सिवाय चित्त की और कोई सत्ता ही न रहे। अर्थात् अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की सत्ता या स्मृति ही न रह जाये। अपने स्वधर्म के अनुसार कर्म में संलग्न मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रसंग में यहाँ तक कहा गया है कि स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त हो तो भी उसे भी नहीं त्यागना चाहिए क्योंकि धूर् से अग्नि के सदृश सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत्त हैं।³

परम विद्वान् भ्रान्द कुमारस्वामी ने कहा है कि 'कलाकार कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं होता, अपने-अपने क्षेत्र में, स्वभाव में हर मनुष्य कलाकार है जो अपने कर्म को स्वधर्म से जोड़े हुए है।' इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा है कि जो अपने स्वभाव के अनुसार अपने व्यवसाय में नहीं लगा है वह वस्तुतः कर्महीन है। कोई भी व्यक्ति चाहे बढ़ई, लोहार, मूर्तिकार, चित्रकार, कवि, वकील, किसान, सुगृहणी या किसी भी व्यवसाय में अपने स्वधर्म के अनुसार संलग्न है तो वह रचनाकार है। इसी अर्थ में कुमारस्वामी का यह प्रसिद्ध वाक्य है, 'जो कलाकार नहीं है उसे समाज में किसी पद अधिकार नहीं है।'⁴

रचना के साथ ही हम एक महत्वपूर्ण प्रश्न से सहज ही जुड़ जाते हैं। किसी भी कर्म (रचना) का जो फल है उसको पाने वाला, उसका इस्तेमाल करने वाला और उस प्रसंग में रचनाकार का क्या सन्दर्भ है? क्या यह सब अपने सुख के लिए है अथवा व्यापक जनहित के लिए? ये सभी प्रश्न वस्तुतः मनुष्य की अपेक्षाओं, इच्छाओं से जुड़े हुए हैं। जब तक हमारा समाज परम्पराओं को मान कर चलता था, कुल परिवार और समाज मान्यताओं, मर्यादाओं के आधीन था तब तक मनुष्य की इच्छाएँ नियमित और नियन्त्रित थीं। आज अपनी पसन्द और निज सुख ही हर वस्तु अथवा रचना के प्रति एक निर्णायक बिन्दु बन चुका है। इस दशा में 'रचना' की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। अपनी पसन्द और निज सुख, ये पशुसंसार की प्रवृत्तियाँ हैं, मनुष्य संसार की प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। केवल सुख का जीवन जिसका अन्तिम लक्ष्य सिर्फ सुख है इसे कुमारस्वामी ने पशुवत् 'सबहूयूमन' कहा है। प्रत्येक पशु केवल यही जानता है कि उसे क्या पसन्द है और इसी सुख की खोज में वह घूमता-फिरता है।⁵

जीवन में सुख का बहुत महत्त्व है। सुख तत्त्व जीवन की महती प्रेरणा है। किन्तु जब सुख को पूरे जीवन से अलग मान कर और सुख को सर्वथा निजी मान कर और विवेक रहित हो कर अपनाया जाता है तभी यह अमानवीय हो जाता है। जहाँ 'रचना' ईश्वर के प्रति (स्वधर्म) एक पूजा है, जहाँ अपना कर्म करना ईश्वर के प्रति गीत गाना है, वहाँ निश्चय ही वह कर्म सम्पूर्ण होता है। इस सम्पूर्णता में मात्र निजी सुख को सौन्दर्य की कसौटी मानना केवल अज्ञान है। आधुनिक युग के मूल में व्यक्तिवाद प्रखर है, आज निजी सुख की कसौटी इतने भयंकर अस्त्र के रूप में इस्तेमाल हो रही है, जिस के सामने अनादि काल से असंख्य जातियों के कला संस्कारों, उसकी कलाकृतियों को हम अपने आगे तुच्छ और

रचना और करना

प्रभावहीन सिद्ध कर

भारतीय कला वि

को अन्तर्ज्ञान की ए

कर कला को केवल

है। शुद्ध भारतीय दृ

सहज उत्तर हमारे य

कि कला हमारे उल्ल

जो रचनाकार के 'ध

जिसका ज्ञान रचयि

कृति को रचता है।

जैसे पुत्र-पिता का

ज्ञान तथा उसके अन्त

एकहाट में कहा है,

उपासना की ओर उ

कुमार स्वामी के श

व्यक्ति एक खास कि

बनाना चाहता' हूँ तो

चित्र में मैं वास्तविक

रचना के तीन चरण

की उत्पत्ति; दूसरा

होना; तीसरा है—

उस विषय की ओर

का 'ध्यान' करता है

हो। एक कलागुरु ने

इसके लिए तुम जाओ

प्रेरणा या उत्साह

मूर्तिकार, या चित्रक

थे और करते हैं।

कला या 'रचना'

सम्पूर्ण रूप का सारा

और रहस्यात्मक है।

हूँ किन्तु कला सार्वभ

का माध्यम मात्र है।

प्रा है कि 'कलाकार कोई
में, स्वभाव में हर मनुष्य
हुए है।' इस सन्दर्भ में
र अपने व्यवसाय में नहीं
व्यक्ति चाहे बड़ई, लोहार,
हणी या किसी भी व्यव-
वह रचनाकार है। इसी
जो कलाकार नहीं है उसे

सहज ही जुड़ जाते हैं।
वाला, उसका इस्तेमाल
सन्दर्भ में? क्या यह सब
के लिए? ये सभी प्रश्न
हैं। जब तक हमारा
परिवार और समाज
की इच्छाएँ नियमित
सुख ही हर वस्तु अथवा
इस दशा में 'रचना' की
निज सुख, ये पशुसंसार
हैं। केवल सुख का
भारस्वामी ने पशुवत्
कि उसे क्या पसन्द है

वन की महती प्रेरणा
और सुख को सर्वथा
जाता है तभी यह
प्रति (स्वधर्म) एक
ना है, वहीं निश्चय
जी सुख को सोन्दर्य
के मूल में व्यक्ति-
र अस्त्र के रूप में
से असंख्य जातियों
ने आगे तुच्छ और

प्रभावहीन सिद्ध करने की पागलपूर्ण चेष्टाएँ कर रहे हैं।

भारतीय कला चिन्तन की मूल उपलब्धि जहाँ समस्त कलात्मक कृति को अन्तर्ज्ञान की एक सम्पूर्ण क्रिया माना गया है—इससे अपना ध्यान हटा कर कला को केवल मानसिक रूपान्तरण या रूपाभिव्यक्ति माना जा रहा है। शुद्ध भारतीय दृष्टि से कलात्मक वस्तु क्या है; इस का अत्यन्त सरल, सहज उत्तर हमारे यहाँ, शास्त्रीय कला हो या लोक कला, यह दिया गया है कि कला हमारे उल्लास, आनन्द का प्रकाश है। वह उल्लास और आनन्द जो रचनाकार के 'ध्यान' से जुड़ा हुआ है। अर्थात् 'रचना' वह वस्तु है जिसका ज्ञान रचयिता की है। वह अपने उसी ज्ञान के अनुसार ही अपनी कृति को रचता है। इसके लिए हमारे यहाँ उदाहरण दिया गया है कि जैसे पुत्र-पिता का कृतित्व है, वैसे ही कोई भी रचना रचनाकार के ज्ञान तथा उसके अन्तःकरण का प्रतीक है। जर्मन साधु और दार्शनिक मीस्टर एकहार्ट ने कहा है, 'कला ईश्वरीय देन है। मनुष्य का सारा जीवन सोन्दर्य उपासना की ओर उन्मुख है। शुद्ध कला मनुष्य के लिए असीम आनन्द है। कुमार स्वामी के शब्दों में 'कलाकार कोई विशेष व्यक्ति नहीं बरन् प्रत्येक व्यक्ति एक खास किस्म का कलाकार है।' 'जब मैं गुलाब के फूल का चित्र बनाना चाहते हूँ तो मेरी आत्मा में गुलाब के फूल का चित्र होना चाहिए। चित्रमें मैं वास्तविक गुलाब के फूल की नकल नहीं करता। वह कहता है कि रचना के तीन चरण हैं।— पहला— रचना के विचार के रूप ('फार्म') की उत्पत्ति; दूसरा है— मनः चक्षु के सामने उस रचना का प्रतिबिम्बित होना; तीसरा है— उसके आकार ग्रहण की क्रिया। प्रथम प्रक्रिया द्वारा उस विषय की ओर ध्यान जाता है अर्थात् रचनाकार उस विशेष विषय का 'ध्यान' करता है। चाहे वह वस्तु अथवा विषय एक फूल हो, या देवता हो। एक कलागुरु ने अपने शिष्य से कहा कि तुम देवताओं के चित्र बनाओ इसके लिए तुम जाओ और ध्यान में बैठो। जब तुम्हारे चित्त में कोई विशेष प्रेरणा या उल्लास जागे तब 'रचना' करना। भारतीय रचनाकार, मूर्तिकार, या चित्रकार 'ध्यान', 'योग' की इसी विधि का प्रयोग करते थे और करते हैं।

कला या 'रचना' किसी वस्तु या विषय की गुण व्याख्या और उसके सम्पूर्ण रूप का साराश है। यह यथावत् होते हुए भी लाक्षणिक, रूपकात्मक और रहस्यात्मक है। कला की, रचना की असंख्य विधियाँ और शैलियाँ हैं किन्तु कला सार्वभौम भाषा है। शैलियाँ तो कलाकार की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र हैं। पर कृति में, रचना में प्रत्येक रचनाकार अपना

अस्तित्व छोड़ जाता है। वह अस्तित्व ही 'परम पद' है जिसका सम्बन्ध उसकी आत्मा से है। जब रचनाकार की रचना कला की पराकाष्ठा, 'विद्य पद' पर पहुँच जाती है तब उसका अन्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में रचनाकार का ध्येय अपनी रचना के द्वारा उस 'परमपद' को प्राप्त करना है जिसके आगे कुछ भी 'पाना' या 'रचना' शेष नहीं रह जातः। आनन्द कुमारस्वामी ने लिखा है कि कला निर्माण का व्यापक तत्व यही है कि उसके द्वारा प्रकृति की विभिन्न स्थितियों और प्रकृति की समस्त अवस्थाओं को दर्शाया जाय। भारतीय दृष्टि में 'रचना' के माध्यम से प्रकृति की विभिन्न स्थितियों और सम्पूर्ण अवस्थाओं को देखने का अर्थ है सृष्टि के सब प्राणियों, चरित्रों को ईश्वर के समीप ले जाना।

कला की मान्यताओं में अपनी परम्परा और रूढ़ियों का अत्यधिक महत्व है। यह एक और सनातन है तो दूसरी और औपचारिक है। इसी को कला परम्परा कहते हैं। रचनाकार या कलाकार का लक्ष्य अथवा भावों, विचारों का प्रदर्शन रूढ़ि अथवा परम्परागत संकेतों, चिन्हों के द्वारा होता है। यह सब होते हुए भी जिस रचना में अदम्य प्रेरणा, उल्लास और रंग नहीं होता वह कला नहीं है। आधुनिक काल के नकलबाज कलाकारों की कला में कोई प्रेरणा, उल्लास और रंग क्यों नहीं होता, वह 'रचना' न होकर केवल 'करना' ही क्यों रह जाता है, अर्थात् हम इसकी चर्चा करेंगे।

पश्चिम में रचनाकार की दुनिया में रचना एक बिकाऊ माल है। यह संघर्ष वहाँ सत्रहवीं शताब्दी में छिड़ गया था। उन्नीसवीं शताब्दी तक प्राते-प्राते राज्य और अर्थव्यवस्था के पूर्ण विकास के साथ-साथ कृति और कृतिकार, अर्थात् रचना और रचनाकार के बीच में एक तीसरी बड़ी शक्ति आ कर खड़ी हुई जिसका नाम है ग्राहक, व्यवस्था, बाजार की रुचि और माँग। इस तीसरी शक्ति को हम रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में आधुनिक संरक्षक कहेंगे। रचनाकार के भीतर स्थित संरक्षक की स्थिति में अब बुनियादी अन्तर आ जाता है। जाहिर है आधुनिक अर्थ, राज्य और समाज व्यवस्था में रचनाकार का वह आन्तरिक संरक्षक जाने-अनजाने तभी तक उसके भीतर वर्तमान रहता है जब तक उसे बाहर के संरक्षकों से प्रतिष्ठा नहीं मिलती। इसीलिए हम प्रायः देखते हैं कि प्रतिष्ठित रचनाकार, शिल्पकार, रंगकर्मी, नाटककार, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार की श्रेष्ठ कृतियाँ वही होती हैं जो उनके सहज प्रारम्भिक दिनों की देन होती हैं।

जब वह बाहर के संसृष्ट ही अपने अन्त हैं। आश्चर्य की बात है जैसे वह प्रतिष्ठित हो हुआ बाहर के क्रय-विक्रय उसकी यही प्रतिष्ठा रचनाकार की भूमिका देती है।

आज की भारतीय कला अंग्रेजों की गुलामी का विकृत रूप है। कहना चाहें तो यह कला की व्यवस्था है। इसे बनाने के लिए हम अपने आगे के आने से पहले हमारा ही दुनिया थी। इस दुनिया देश की परम्परा, अन्त उस ज्ञान के आधार, व्यक्तित्व और चरित्र चरित्र के घागे में जीव था। यहीं से उसे अपने था। इसी भाव और आ और अपने प्रसंगों में,

ठीक इसके विपरीत को तोड़ कर हमें एक कर काल प्रवाह की जिसकी अपनी कोई शिक्षा ज्ञान की विरोध सूचना पर है। आज कही जाती है तो उस लेना-देना है, उस कया सम्बन्ध है। उस मात्र वह तर्कबुद्धि (ज्ञान)

यव' है जिसका सम्बन्ध का की पराकाष्ठा, 'दिव्य ता है। दूसरे शब्दों में 'मयव' को प्राप्त करना ही रह जात। आनन्द रूपक तत्व यही है कि की समस्त अवस्थाओं माध्यम से प्रकृति की का अर्थ है सृष्टि के

कृतियों का अत्यधिक औपचारिक है। इसी का लक्ष्य अथवा संकेतों, विन्हीं के प्रेरणा, उल्लास नकलबाज नही होता, वह अब हम इसकी

काज माल है। यह नवीं शताब्दी तक अथ-साथ कृति और एक तीसरी बड़ी बाजार की रुचि न्दम में आधुनिक की स्थिति में अब राज्य और समाज नजाने तभी तक क्षकों से प्रतिष्ठा रचनाकार, कार की श्रेष्ठ देन होती है।

जब वह बाहर के संरक्षकों द्वारा प्रतिष्ठित नहीं रहता। अर्थात् जब वह सहज ही अपने अन्तः संरक्षक के आधीन अपनी रचना का सृजन करता है। आश्चर्य की बात यही है कि अपने सहज सृजन के आधार पर जैसे-जैसे वह प्रतिष्ठित होने लगता है वैसे-वैसे वह आत्म संरक्षक को दूर हटाता हुआ बाहर के क्रय-विक्रय-प्रधान संरक्षक के आधीन होता चला जाता है। उसकी यही प्रतिष्ठा लिप्सा, बाह्य संरक्षक की अधीनता, उसे अन्ततः रचनाकार की भूमिका से ज्युत कर भाग के अनुसार 'करने' को बाह्य कर देती है।

आज की भारतीय व्यवस्था पश्चिम से उधार ली हुई, या यों कहें कि अंग्रेजों की गुलामी के कारण हम पर आरोपित उन्हीं की व्यवस्था का विकृत रूप है। इस व्यवस्था के सारतत्व को यदि हम एक शब्द में कहना चाहें तो यह व्यवस्था नीचे से ऊपर तक, समस्त दिशाओं में शोषण की व्यवस्था है। इसे समझने के लिए और कला के प्रसंग को और स्पष्ट करने के लिए हम अपने यहाँ की शिक्षा व्यवस्था को ले सकते हैं। अंग्रेजों के आने से पहले हमारे यहाँ की शिक्षा व्यवस्था गुरु और शिष्य के सम्बन्धों की दुनिया थी। इस दुनिया में गुरु शिष्य को जो शिक्षा देता था, उसमें इस देश की परम्परा, अतीत के ऐश्वर्य और विद्या प्रकारों का ज्ञान देता था। उस ज्ञान के आधार पर शिष्य के अपने 'स्वधर्म' के अनुसार उसका व्यक्तित्व और चरित्र निमित्त होता था। गुरु से प्राप्त ज्ञान की सूई में अपने चरित्र के धागे में जीवन के समस्त अनुभव रूपी फूलों को गूँथता चला जाता था। यहीं से उसे अपने जीवन की एक रचनात्मक सार्थकता का भाव मिलता-था। इसी भाव और अनुभव प्रकाश में, वह अपनी परम्परा, अपनी सनातनता और अपने प्रसंगों में, अपने वर्तमान और भविष्य को देखता समझता था।

ठीक इसके विपरीत आधुनिक शिक्षा व्यवस्था ने गुरु-शिष्य परम्परा को तोड़ कर हमें एक कटी पतंग के रूप में अथवा अपनी जड़ से उखाड़ कर काल प्रवाह की धारा में बहते हुए उस वृक्ष की तरह कर दिया जिसकी अपनी कोई अस्मिता या दिशा ही शेष न रह गयी हो। आधुनिक शिक्षा ज्ञान की विरोधी है। इसका पूरा बल 'जानने' पर नहीं है, बल्कि सूचना पर है। आज के विद्यार्थी के सामने जब भी कोई ज्ञान की बात कही जाती है तो उसकी सहज प्रतिक्रिया यह होती है कि उसे ज्ञान से क्या लेना-देना है, उस आवश्यकता की से उसके अतीत और परम्परा का क्या सम्बन्ध है। उससे कोई आस्था या निष्ठा का सम्बन्ध नहीं। उसे मात्र वह तर्कबुद्धि (ज्ञान नहीं) चाहिए जिसके ऊपर सारी वर्तमान राज्य

और अर्थव्यवस्था खड़ी हुई है। इस तर्कबुद्धि से जो संस्कृति आज हमारे चारों ओर पनपी हुई है उसमें एक ही मनोभाव कार्यरत है कि हम किस तरह से बिक जाएँ, किस तरह से दूसरे को खरीद लें, किसी भी तरह अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सफल हो जाएँ। इस व्यवस्था में कहीं भी कोई शिक्षक नहीं रह गया है, कहीं वह गुरु नहीं है जो हममें संस्कार जगा कर आत्म शक्ति जाग्रत करे, अपना धैर्य और शौर्य उत्प्रेरित करे। आज शिक्षक इस भ्रष्ट व्यवस्था का ऐसा एजेन्ट हो चुका है, जिसे यह भी पता नहीं कि वह क्या बेच रहा है और क्यों बेच रहा है। वह अपनी परम तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के पीछे पागल है। इस पागलपन से जो परिवेश हमारे चारों ओर मकड़ी का जाल बुन रहा है, उसमें 'रचना' कहाँ और कैसे सम्भव है? मूल और काम की तृप्ति ही हमारी नितान्त तात्कालिक आवश्यकताएँ हैं। ये आवश्यकताएँ रचनाकार को रचना के मूल केन्द्र से पूरी तरह हटा कर उसे बिकने और खरीदने की संस्कृति से जोड़ देती हैं। उसमें यही तर्कबुद्धि सक्रिय रहती है कि जो चीज बिक नहीं सकती वह निरर्थक है। बिकती वही है जो व्यवस्था के अनुकूल या उसी के इशारे और माँग पर रची जाती है।

'जानना' ही 'रचना' करना है। वर्तमान व्यवस्था से निर्मित आज की संस्कृति 'जानने' तत्व के विरुद्ध खड़ी है। फिर यह 'जानना' सम्भव कैसे होगा! यदि हम बहुत धैर्य और संकल्प से 'जानने' की दिशा में अग्रसर होते हैं तो आज की तात्कालिक आवश्यकताएँ हमारा रास्ता रोकती हैं और हमें स्वभावतः 'रचना' के मार्ग से पथभ्रष्ट करती हैं।

इसका मार्ग क्या है? इस संघर्ष से लड़ने का एक ही उपाय है कि हम बाह्य संरक्षक पर निर्भर होने के बजाय अपने भीतरी आत्म संरक्षक को जाग्रत करें। और अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं पर नियन्त्रण करना शुरू करें। 'रचना' के लिए मनस्य स्वयं निर्मित अभाव या गरीबी को उसी तरह स्वीकार कर ले जैसे एक सन्त स्वीकार करता है — एक महत्तर लक्ष्य-निष्ठा के लिए। आधुनिक व्यवस्था जिस तरह आत्मज्ञान के खिलाफ है, उस ज्ञान के लिए भौतिक सुखों का त्याग ही एकमात्र विकल्प है, जिससे 'करने' के पागलपन से मुक्त हो कर मनुष्य 'रचना' की ओर लौट सकता है।

भारतीय कलाकार जीवन और आत्मा को जोड़ने वाले अनुभव सम्बन्धी मूल्यों के मापवण्ड से अपनी रचना आरम्भ करता है। यहाँ

रचना और करना

समस्त सृजन शक्ति आधुनिक भौतिक आवश्यकताओं के कारण हमारे यहाँ सदा जान बूझ इतना अल्प होते हुए इतना यह मनुष्य की सनातन उसकी रचना में एक अत्यन्त थी, जब दर्शक और श्रोता उपलब्ध होते थे। उसकी जाता था जो रचना के मूल जो चित्त को उस परम उ

रूपों, अवस्थाओं और हमारी रचना की मुख्य जिस जगत में हम रहते उतारने के उद्देश्य से स्थानीय निष्ठा प्रदर्शित की किसी विशेष स्थान पर भावोत्तेजना प्रदान करना कला में है) हमारा उद्देश्य जीवन के दृश्य में, अवस्था वास्तविकता है। पर वह वास्तविकता है जिसे अन्तरिक्ष क्षेत्र की है, अपनी अन्तरिक्ष्य साक्षी हो जाती हैं।

हमारे 'रचना' जगत में उत्पन्न किया जाता है, अपना विशेष गुण है।

रचना के सन्दर्भ में आवश्यकता है। भारतीय भगवान से है। हमारे यहाँ अनादि, अरूप, अदृश्य है सर्जक और रचनाकार है रचनाकार वही है। इस सृष्टि का सर्जक है। पश्चिम उत्तेजित और अभिमान से

समस्त सृजन शक्ति आध्यात्मिक एवं आन्तरिक दृष्टि से प्राप्त होती है। भौतिक आवश्यकताओं का स्थान यहाँ सदैव गौण रहा है। उस दबाव को हमारे यहाँ सदा जान बूझ कर हल्का कर दिया गया है। वह अपने आप में इतना शून्य होते हुए इतने गुरुत्व के सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता था, जहाँ वह मनुष्य की सनातन आवश्यकताओं के द्वार पर दस्तक देता था। उसकी रचना में एक अत्यन्त प्रबल कोटि की आन्तरिक छाप तब पड़ती थी, जब दर्शक और श्रोता के चित्त को उच्च भाव, उच्च संस्कार स्वभावतः उपलब्ध होते थे। उसकी रचना में ऐसे प्रत्येक तत्त्व को गौण कर दिया जाता था जो रचना के महत्तर उद्देश्यों की सिद्धि में बाधक होता था या जो चित्त को उस परम उद्देश्य की पवित्रता से विचलित करता था।

रूपों, अवस्थाओं और उनके भेदों का सच्चाई के साथ अनुकृति करना हमारी रचना की मुख्य पहचान है। पर अनुकृति इस अर्थ में नहीं कि जिस जगत में हम रहते हैं, उसकी बाह्य आकृतियों की सच्ची प्रतिकृति उतारने के उद्देश्य से स्थूल रूप के प्रति यथार्थ, प्रकृतिवादी या व्यक्तिवादी निष्ठा प्रदर्शित की जाय। किसी ऐसी चीज को जिसे हमारी आँखें किसी विशेष स्थान पर देख चुकी हैं, या देख सकती थीं, उसे उसकी भावोत्तेजना प्रदान करना (जैसा कि पश्चिम के आधुनिक पिएटर और कला में है) हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा उद्देश्य है यह दिखाना कि जीवन के दृश्य में, अवस्था में, एक असाधारण सजीवता, स्वाभाविकता, वास्तविकता है। पर वह भौतिक वास्तविकता, से अधिक कुछ है, ऐसी वास्तविकता है जिसे अन्तरात्मा तुरन्त पहचान लेती है कि यह उसके अपने क्षेत्र की है, अपनी अन्तरात्मा की है। हमारी स्थूल आँखें उसे देख कर स्वयं साक्षी हो जाती हैं।

हमारे 'रचना' जगत में जिस साधना और साधन के द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न किया जाता है, वह भारतीय चित्त की अन्तर्मुखी दृष्टि का अपना विशेष गुण है।

रचना के सन्दर्भ में एक बुनियादी बात के स्पष्टीकरण की नितान्त आवश्यकता है। भारतीय परम्परा में सृष्टि और स्रष्टा का बोध केवल भगवान से है। हमारे यहाँ का यह परम विश्वास है कि ईश्वर ही, जो अनादि, अरूप, अदृश्य है वही इस जगत्, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एकमात्र सर्जक और रचनाकार है। यहाँ हर तत्व और हर वस्तु का एकमात्र रचनाकार वही है। इस सन्दर्भ में मनुष्य न तो रचनाकार है, न वह किसी सृष्टि का सर्जक है। पश्चिम का मनुष्य अपने सर्जक प्रहंकार से इस कदर उत्तेजित और अभिमान से भरा है कि जैसे हर कर्म या सृजन का वही कर्ता

है। सम्भवतः यही कारण है कि पश्चिमी संस्कृति में कर्म, अर्थ, व्यवसाय पर इतना अधिक बल है कि वहाँ इस प्रश्न को ही मुला दिया गया है कि मनुष्य आखिर है क्या और जो कुछ वह कर रहा है उसका प्रयोजन क्या है ?

भारतीय दृष्टि और परम्परा के अनुसार 'रचना' हो चुकी है, हर रचना में वही आदि रचनाकार समाया हुआ है। मनुष्य दोबारा रचना नहीं कर सकता, रचना जो भी वह करेगा वह स्वभावतः दूसरी होगी। ठीक उसी तरह जैसे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से जो पहली बार मिला है, वह बस पहली बार है; दोबारा जब भी वह मिलेगा, वह पहला मिलन ही नहीं सकता। काफ़का ने कहा है कि जिसकी पहले रचना हो चुकी है उसकी दो बार रचना कैसे हो सकती है ? क्योंकि उसकी रचना पहले ही हो चुकी है।⁶

मनुष्य, जो रचना हो चुकी है, उसकी केवल 'अनुकृति' कर सकता है। 'अनुकृति' मायने जो सृष्टि हो चुकी है, उसके समानान्तर ('इमिटेशन' नहीं) बनाना, जिसे कुमारस्वामी के शब्दों में निर्मित 'मेकिंग' कहा गया है। सृजन केवल देवी तथ्य है। मानवी सृजन भी देवी हो सकता है किन्तु देवी नहीं है। पर यह मानवी सृजन कोई सरल कार्य नहीं है। इस सृजन में वस्तुतः एकात्म होना है— अपने आप से और उस कृतित्व से जिसके 'बनाने' में ईश्वर ने हमें लगाया है। मैं रचना करूँगा, मैं रचना कर रहा हूँ, मैं रचनाकार हूँ, यह आधुनिक (पश्चिमी) बोध है। मुझे ईश्वर की कृपा से उसी ने किसी कर्म में लगा दिया है और यह कर्म उसी की कृपा से रचित हो गया है जो मेरी तरफ से उसके प्रति एक पूजा, आराधना है, अहंकार से मुक्त होने का एक उपक्रम है, यह है भारतीय 'रचना' बोध जिसमें 'मैं' कहीं नहीं है।

1. The making of things is not a matter of prudence. Anand
2. यच्छेद्वाङ्मानसी प्राञ्चल्यं
ज्ञानमात्मनि महति नियमं
3. श्रीमद्भगवद्गीता, अष्टमोऽध्यायः
4. No man has a right to create.
5. The life of pleasure is not a life; it is a subhuman; every man has to live it.
6. काफ़का ने यह मन्तव्य बतलाया है—
A bird cannot be created; it is already created, is the result of the first act. It is not a result of this series created by the will, a living series recounted in a legend. It is out of the man's rib, men always took to it.
Franz Kafka, W

कर्म, प्रयत्न, व्यवसाय
ला दिया गया है कि
है उसका प्रयोजन

' हो चुकी है. हर
पुष्प दोबारा रचना
वतः दूसरी होगी।
हली बार मिला है,
ह पहला मिलन हो
रचना हो चुकी है
की रचना पहले हो

ति' कर सकता है।
स्तर ('इमिटेशन'
किंग' कहा गया है।
कता है किन्तु देवी
है। इस सृजन में
कृतित्व से जिसके
में रचना कर रहा
मुझे ईश्वर की
उसी की कृपा से
ना, आराधना है,
य 'रचना' बोध

सन्दर्भ

1. The making of things is governed by art, the doing of things by prudence. Ananda K. Coomaraswamy, *Christian and Oriental Philosophy of Art*, p. 24.
2. यच्छेद्वाङ्मानसी प्राशन्तचच्छैत्तान् आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तचच्छैत्तान् आत्मनि ।
कठोपनिषद् 1 । 3
3. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 18 । 45—48.
4. No man has a right to any social status who is not an artist.
Anand K. Coomaraswamy, op. cit.
5. The life of pleasure only, one of which the end is pleasure is subhuman; every animal "knows what it likes" and seeks for it.
ibid p. 26.
6. काफ़का ने यह मन्तव्य बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट किया है :
A bird cannot be created by means of an original act, for it is already created, is continually coming into existence as a result of the first act of creation, and it is impossible to break into this series created on the ground of an original, unceasing will, a living series continually showing forth; it is just as is recounted in a legend : although the first woman was created out of the man's rib, this was never repeated but from then on men always took to wife the daughters of others.
Franz Kafka, *Wedding Preparations in the Country*.

प्रस्तुतिकरण और निर्देशक

सारी कलाओं में नाट्यकला सम्पूर्ण और एकान्त रूप से प्रदर्शन अथवा प्रस्तुतिधर्मी कला है। इसे एक ही साथ खेला जाना है और देखा जाना है। अभिनेताओं द्वारा खेला जाना, दर्शकों द्वारा देखा जाना, इन दोनों पक्षों के बीच में निश्चय ही एक सेतु है। अभिनेताओं द्वारा तथा अनेक रंग तत्वों द्वारा समूचा का समूचा प्रदर्शन मंच दर्शक तक पहुँचा देना, यह किसी महत्त्वपूर्ण शिल्पी या कलाकार का ही कार्य है। हमारे प्राचीन नाट्य में यह महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है नाट्याचार्य, नाट्यप्रयोक्ता या सूत्रधार। नाट्याचार्य और सूत्रधार पहले दोनों अलग-अलग कलाकार थे, किन्तु जैसा कि संस्कृत नाटकों में प्रकट है सूत्रधार ही वह कलाकार है जो नाट्यप्रयोक्ता है।

सूत्रधार के बारे में विशेषकर उसके गुरु बताते हुए भरतमुनि ने यह लिखा है, 'जो समान रूप से गीत, वाद्य और पाठ्य को नाट्यशास्त्र में वर्णित नियम के अनुसार लिखा कर उनका प्रयोग कर सके उसे सूत्राधार कहते हैं।' इस सूत्रधार के गुण आगे बताते हुए भरतमुनि ने लिखा है :

सूत्रधार का लक्षण यह है कि प्रारम्भ में मंगलाचरण कहे, उस में इच्छित वाणी बना सकने का संस्कार हो, ताल, स्वर, बाजे इत्यादि का पूरा ज्ञान हो, चारों प्रकार के बाजे बजाने में चतुर हो, शास्त्र का व्यवहार भली-भाँति जानता हो, अनेक प्रकार के ढोंग कर सकता हो, नीति और शास्त्र का मर्म जानने वाला हो, वेश्याओं का आदर करने में निपुण हो, कामशास्त्र भली भाँति जानता हो, अनेक प्रकार के गीतों का विस्तार जानता हो, रस और भाव को भली भाँति समझता हो, नाटक खेलने की सब क्रियाएँ भली भाँति जानता हो, पिंगल और छन्द के नियम जानता हो, सब शास्त्रों का पण्डित हो, ग्रहों और नक्षत्रों की चाल समझता हो, शरीर की सब गतिर्याँ जानता हो, पृथ्वी, द्वीप, वर्ष, पर्वत तथा राजकुल के लोगों के प्रामाणिक जीवन-चरित्र जानता हो, शास्त्र का

अर्थ करने वालों की बात भली-भाँति सुनता हो, सुन कर समझता हो, समझ कर उसका प्रवचन करता हो और उसका प्रदर्शन कर सकता हो। ये सब गुण जिसमें हो वही सूत्रधार हो सकता है।

पश्चिम में डायरेक्टर अथवा निर्देशक का भाव है। पश्चिम में परम्परागत ढंग से निर्देशक और नाटककार के बीच सक्रिय सम्बन्ध है। भारत में लोकनाटकों को छोड़ कर इन दोनों के मध्य कोई पारस्परिक सम्बन्ध, संस्कृत रंगमंच के बाद नहीं रहा। नौटंकी, पारसी थिएटर तक के प्रदर्शनों में, जिस अर्थ में पश्चिम में डायरेक्टर है वैसा कोई प्राणी नहीं है। पारसी थिएटर में मुख्य रूप से निर्देशक के स्थान पर 'पेट्री मास्टर' का महत्वपूर्ण स्थान है।

वस्तुतः निर्देशक का उदय आधुनिक युग की देन है। विशेषकर वह उस काल और ऐतिहासिक सामाजिक अवस्था की उपज है, जब हमारे जीवन से परम्परागत मूल्य और आदर्श छिन्न-भिन्न होने शुरू हुए। समाज में जब परस्पर सम्बन्ध, सामूहिक भाव निस्तेज होता चला गया और समाज विभिन्न वर्गों और व्यक्तियों में बँटता चला गया, तो स्वभावतः रंगमंच क्षेत्र में किसी एक ऐसी शक्ति, ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता हुई जो नाटक और रंगमंच के विविध अंगों, पक्षों और तत्वों के बीच तादात्म्य स्थापित करा सके, उनके बीच संयोजन कर सके तथा नाटक और नाटक के समूचे प्रदर्शन को एक निश्चित दिशा दे सके।

नाटक और उसका प्रस्तुतिकरण एक ऐसी विशेष कला है जिसका माध्यम और साधन सजीव मनुष्य है। अभिनेता नाटक के अर्थों को स्पष्ट और पात्र के चरित्र को व्यक्त करता है, इस अर्थ और अभिव्यक्ति में निर्देशक का महत्वपूर्ण हाथ है। भारतीय नाट्य का सूत्रधार शब्द इस अर्थ में बहुत ही अर्थवान है कि जिसके हाथों में नाटक का ही सूत्र नहीं रहता था बल्कि वह प्रस्तुतिकरण के समूचे सूत्रों का धारक होता था। आधुनिक युग में, वर्तमान समय में निर्देशक और डायरेक्टर का प्रायः यही अर्थ है।

प्राचीनतम काल से, जब से नाटक का प्रदर्शन प्रारम्भ हुआ है, तब से आज तक नाट्य प्रदर्शन का एक ही समान आधार है— प्रदर्शन के विभिन्न अंगों, पक्षों के भीतर एकसूत्रता को स्थापित करना। यह एक-सूत्रता जितनी आन्तरिक है, उतनी ही बाह्य भी है। इस लिए समाज और व्यक्ति में जैसे-जैसे आन्तरिक संगति और एकसूत्रता और परस्पर सम्बन्ध टूटते चले जाएँगे, वैसे-वैसे रंगमंच में डायरेक्टर की अनिवार्यता बढ़ती चली

जायेगी। चाहे प्राचीन प्रस्तुतिकरण हो या नए तक और प्रतीकात्मक अनुष्ठानों, द्रत त्योहारों, मंच या प्रदर्शन का होता रहा। किन्तु जीवन से धर्म का प्रति अविश्वास को मिथक, प्रतीक गयी। निर्देशक क हठियों और परम्परा जाता था, उसे आज आदि शिल्प चमत्कारण को सदा ए आज भी लिया जात सत्य है।

नाटक में ऐसा शिल्पी सब मिल कर अर्थात् हम सब क जिसे तुम अपने देश में सीमित किये हु अनुभूत कराने का प्र असीम और बृहत् इस बृहत्तर सत्य को सम्बन्ध न स्थापित इस खालीपन को कु का चरम लक्ष्य है। एक जीवन्त प्रक्रिया पर कुछ देख कर सहसा खुलती है, प्र

देखने और दिख अभिनेता, नाटक सामना करते हैं।

जायेगी। चाहे प्राचीन मंच हो या वर्तमान मंच हो, चाहे प्राचीन समय का प्रस्तुतिकरण हो या वर्तमान समय का, मंच और प्रदर्शन दोनों को रूपकात्मक और प्रतीकात्मक अर्थ में लेना ही होगा। जब तक रंगमंच धार्मिक मनुष्ठानों, द्रत त्यौहार अथवा आत्मिक विश्वासों से जुड़ा रहा है, तब तक मंच या प्रदर्शन का दर्शक वर्ग सहज ही रूपक और प्रतीक अर्थ में सहभागी होता रहा। किन्तु जब से तर्क और अविश्वास के कारण सामाजिक जीवन से धर्म का भाव, पर्व, त्यौहार का बोध, देवता, ईश्वर, पुराण, के प्रति अविश्वास दृढ़ होता चला गया, तब से मंच और प्रस्तुतिकरण को मिथक, प्रतीक और विश्वास के सूत्रों में बाँधने की चुनौती बढ़ती चली गयी। निर्देशक का महत्व बढ़ता गया। जो काम पहले धार्मिक विश्वासों, रूढ़ियों और परम्पराओं से पारम्परिक सौन्दर्य बोध के कारण सहज ही हो जाता था, उसे आज असहज ढंग से, प्रकाश, मंच, रंगशिल्प, ध्वनि प्रभाव आदि शिल्प चमत्कारों द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है। मंच और प्रस्तुतिकरण को सदा एक रूपक, एक प्रतीक अर्थ में ही लिया जाना है जैसा कि आज भी लिया जाता है, और सदा लिया जाता रहेगा। यह एक सनातन सत्य है।

नाटक में ऐसा क्या होता है जिसे अभिनेता, निर्देशक और अन्य रंगशिल्पी सब मिल कर उसे दर्शकों के लिए मंच पर प्रस्तुत करना चाहते हैं? अर्थात् हम सब क्या दिखाना चाहते हैं? सम्भवतः यही कि यह जीवन जिसे तुम अपने देश काल की सीमा में बाँधे बैठे हो, अपने नाम-गुण-स्थिति में सीमित किये हुए हो, वह ऐसा नहीं है। नाटक में यही दिखाने और अनुभूत कराने का प्रयत्न है कि जीवन इस देश काल से परे, इस सीमा से असीम और बृहत्तर है। तुममें और सबमें केवल देख पाने का अन्तर है। इस बृहत्तर सत्य को अपना भाव न बना सकने के कारण, सबसे अरना सम्बन्ध न स्थापित कर पाने के कारण हम सब का 'पात्र' खाली-खाली है। इस खालीपन को कुछ भी बूंदों से थोड़ा भर लेना (आस्वाद) ही रंगमंच का चरम लक्ष्य है। खालीपन को भरना यह कोई जड़ स्थिति नहीं है, बल्कि एक जीवन्त प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का आरम्भ यहीं से होता है कि मंच पर कुछ देख कर हमारे भीतर कोई पत्थर अचानक टूटता है, कोई गाँठ सहसा खुलती है, अन्धेरा चीरती कोई किरण दिखाई देती है।

देखने और दिखाने की यह प्रक्रिया, एक आत्मसंघर्ष है। दर्शक, निर्देशक अभिनेता, नाटककार सब अपने-अपने सत्य के साथ इस आत्म संघर्ष का सामना करते हैं। इस सामना करने की प्रक्रिया में अपने-अपने मुलौटों से

बाहर आते हैं। इस अर्थ में प्रत्येक महत्वपूर्ण नाटक, अभिनेता और निर्देशक एक सम्पूर्ण चुनौती के रूप में है। यह चुनौती अपने आप के प्रति है, और दर्शक समाज के प्रति है। रंगमंच से जुड़ा हुआ प्रत्येक प्राणी अपने-अपने स्तर पर अपनी दृष्टि, भाव, जीवन निर्णयों, और विश्वासों की सीमाओं के परे जाता है। इस यात्रा में मनुष्य ही साधन है और मनुष्य का शरीर, उसकी साँस, उसके आन्तरिक भाव यही सब उस यात्रा के पाथेय हैं।

रंगमंच जब तक धर्म का एक अभिन्न अंग था, तब तक वह सम्पूर्ण था। उसका अभिनेता, नाटककार, दर्शक, पूरा समाज एक विश्वास, निष्ठा और पौराणिकता से अभिभूत था। इस तरह से उस समय का दर्शक समाज अपने विश्वास और आस्था को मंच के प्रदर्शन से दुगुना और तिगुना करता था। उस दुगुन और तिगुन में मंच और दर्शक के बीच किसी तरह का कोई व्यवधान नहीं रहता था। मंच पर अभिनीत पात्र की भूमिकाओं द्वारा जो रस बरसता था वही सहज ही दर्शक के पात्र में भर जाता था। इसे यों भी कह सकते हैं कि जो रस दर्शक के पात्र में बरस रहा है, वही समान रूप से मंच पर भी बरस रहा है। मंच का सारा प्रस्तुतिकरण बरसता हुआ आकाश था, दर्शक समाज घरती था। जो सम्बन्ध नभ और पृथ्वी का है, जल और वायु का है, रस और पात्र का है, वही परस्पर सम्बन्ध नाटक, अभिनेता, प्रस्तुतिकरण और दर्शक का है। यह सम्बन्ध सीधा नहीं है, बल्कि गोलाकार है। जैसे संगीत, जैसे क्षितिज, जैसे घट। यही स्थिति पश्चिम के प्राचीन रंगमंच में तब तक थी, जब तक उनका समाज धर्म का अभिन्न अंग था। 'विवेचन' (केथारसिस) वह भावानुभूति थी जिसके लिए दर्शक, अभिनेता, पूरा समाज एक रंग में बंध कर किसी पर्व का अंग होता था।

वर्तमान स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। अब न वह धर्म है न पुराण, न विश्वास, न वह सामुदायिक भाव है। हर मनुष्य अपने आप में अलग-अलग है। इन अलग-अलग इकाइयों को परस्पर बाँधने वाली, अथवा एकाकार करने वाली न परम्परा है, न बुद्धि और तर्क से परे जाने का संस्कार। यह सच है कि किसी न किसी रूप में धर्म, विश्वास और पुराण के प्रति विश्वास अब भी है। पर यह विश्वास सबका अलग-अलग व्यक्तिगत स्तर का है। कला और संस्कृति में अलग-अलग व्यक्तिगत विश्वास की उतनी सार्थकता नहीं है जितनी सामूहिक निष्ठा और विश्वास की है। रंगमंच की कला विशेषकर व्यक्तिपरक कला है ही नहीं, शुद्ध रूप से सामाजिक और सामूहिक कला है। व्यक्ति को सामाजिक बना देना यह वर्तमान रंगमंच की

सबसे बड़ी चुनौती नहीं है। यह जीव-जाल से एक मनुष्य मनुष्य को अलग कर्तव्य है। इसी अनुभव अपने मुख पर पर्दा मुखौटे को उतार काम है।

हमारे संस्कृत काल को हटाने के लिए बनाना कोई साधन दर्शक बनाने का ही भूमिका निर्मित कि

इसी लिए हमारा लोक कलाओं में संचालन का अनुष्ठान किये की सूचना दी जाते स्थान बैठ जाते थे, नर्तकों (अभिनेता) के बाद नाटक के भृंगार में जल लिये हुए एक दूसरे

इन दोनों के समीप आता था, एक विशेष प्रकार जल ले कर आचमन करने वाले ध्वज प्रणाम करता था अभिनय से विष्णु पद समझा जाता को नामि तक उचित प्रणाम करता था करता था। फिर

सबसे बड़ी चुनौती है। सामाजिक हुए बिना इस कला का कोई अस्तित्व नहीं है। यह जीवन की अजब विशेषता अथवा गुण है कि यह अपनी चाल से एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से अलग करती है। यह समाज से मनुष्य को अलग करती है। क्योंकि दुःख और सुख निजी अनुभव होते हैं। इसी अनुभव के आधार पर मनुष्य दूसरे मनुष्य से अपने भीतर और अपने मुख पर पर्दा और एक मुखौटा लगाने को विवश है। इस पर्दे और मुखौटे को उतार कर उसे फिर सामाजिक बनाना, यही रंगमंच का मुख्य काम है।

हमारे संस्कृत और पश्चिम के प्राचीन रंगमंच में इस पर्दे और मुखौटे को हटाने के लिए 'पूर्वरंग' का इतना व्यापक विधान था। मनुष्य को दर्शक बनाना कोई साधारण कर्म नहीं है। सारा 'पूर्वरंग' अनुष्ठान मनुष्य को दर्शक बनाने का ही महत्वपूर्ण प्रयास है। बिना दर्शक की मनः स्थिति या भूमिका निर्मित किये हुए नाटक का शुभारम्भ कैसे हो सकता है।

इसी लिए हमारे संस्कृत नाट्य प्रस्तुतिकरण के आरम्भ में (यही बात लोक कलाओं में समान रूप से वर्तमान है) एक बहुत आडम्बरपूर्ण विधि का अनुष्ठान किया जाता था। पहले नगाड़ा बजा कर नाटक आरम्भ होने की सूचना दी जाती थी, फिर मायक और वादक रंगभूमि में आ कर यथा-स्थान बैठ जाते थे, संगीत आरम्भ होता था, मृदंग, वेणु, वीणा आदि वाद्य, नर्तकों (अभिनेताओं) के नूपुर झंकार के साथ बज उठते थे और इन कार्यों के बाद नाटक के पूर्वरंग का उत्थापन होता था। उसके एक पार्श्व में भृंगार में जल लिये हुए एक भृंगारधर होता था दूसरी ओर जर्ज (ध्वजा) लिये हुए एक दूसरा जर्जधर, इन दोनों को पारिपाश्विक कहते हैं।

इन दोनों के साथ सूत्रधार मंच से पाँच पग बढ़ कर, बिल्कुल दर्शकों के समीप आता था, वहाँ ब्रह्मा की पूजा होती थी। इस पाँच पग बढ़ने के लिए एक विशेष प्रकार की अभिनयमंगी होती थी। फिर वह सूत्रधार भृंगार से जल ले कर आचमन प्रोक्षणादि से पवित्र हो लेता था और विघ्न को जर्जर करने वाले ध्वज को उत्तोलित करता था। तब मन्त्र-मन्त्र देवताओं को प्रणाम करता था। वह दाहिने पैर के अभिनय से शिव को, वाम पद के अभिनय से विष्णु को प्रणाम करता था। पहला पुरुष का, दूसरा स्त्री का पद समझा जाता था। एक नपुंसक पद भी होता था, जब कि दाहिने पैर को नामि तक उत्क्षिप्त कर लिया जाता था। इस मंगिमा से वह ब्रह्मा को प्रणाम करता था। फिर विधिपूर्वक चार प्रकार के पुष्पों से जर्जर की पूजा करता था। फिर वाद्य यन्त्रों की भी पूजा और तब नान्दी पाठ होता था।

और दिखाना

अभिनेता और
आप के प्रति
प्राणी अपने-
विश्वासों की
और मनुष्य
उस यात्रा के

वह सम्पूर्ण
आवास, निष्ठा
मय का दर्शक
हुगुना और
दर्शक के बीच
अभिनेता पात्र
दर्शक के पात्र में
पात्र में बरस
मंच का सारा
घरती था। जो
और पात्र का
और दर्शक का
संगीत, जैसे
मंच में तब तक
रेखन' (केया-
), पूरा समाज

है न पुराण, न
में अलग-अलग
अथवा एकाकार
संस्कार। यह
प्रति विश्वास
त स्तर का है।
तत्तनी सार्थकता
रंगमंच की कला
क और सामू-
न रंगमंच की

प्रत्येक शुभाकांक्षा की समाप्ति पर पारिपाश्विक लोग एकमस्तु कह कर प्रतिवचन देते थे और नान्दी पाठ समाप्त होता था।

इसके बाद वह श्लोक पाठ होता था जिसमें जिस देवता की विशेष पूजा के अवसर पर नाटक खेला जा रहा होता था या जिस राजा के उत्सव पर नाटक हो रहा होता था उसकी स्तुति होती थी। तब चारि नृत्य शुरू होता था। यह चारि का प्रयोग पार्वती की प्रीति के उद्देश्य से किया जाता था। क्योंकि पूर्वकाल में कभी शिव ने इस विशेष मंगी से पार्वती के साथ क्रीड़ा की थी। चारि के बाद महाचारि, फिर प्ररोचना होती थी जिस में नाटक की विषय वस्तु आदि सभी बातें बता दी जाती थीं। इस तरह जब नाट्यमण्डप में आये हुए सभी मनुष्य दर्शक हो जाते थे और उनकी मनःस्थिति में एक विशेष सामाजिकता का अवतरण हो जाता था तब नाटक शुरू होता था।

वर्तमान समय में मनुष्य जब उत्तरोत्तर व्यक्ति से भी आगे 'इण्डिविजुअल' (अंतिम इकाई) होता चला जा रहा है तो उसके लिए किसी प्रस्तुतिकरण का दर्शक या सांभोदार बनना कैसे सम्भव है। ग्रीटोवस्की के शब्दों में— इसके लिए अतिआवश्यक है कि मनुष्य की प्रतीति और साक्षात्कार उसकी परम्परा और पुराण इतिहास से कराया जाय, न कि उस की अस्मिता से। दूसरे शब्दों में आज के व्यक्ति को दर्शक बनाने के लिए यह कठोर प्रयत्न किया जाना चाहिए कि उसका यह विश्वास, भ्रम, भ्रोड़ा हुआ भूठ किसी तरह टूटे कि कोई भी अनुभव और अनुभूति निजी और व्यक्तिगत होती है। यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति को उसकी परम्परा, उसकी सनातनता, उसकी बुनियाद से जोड़ दिया जाय। इसके लिए आवश्यक है कि वर्तमान के सन्दर्भ में मनुष्य की परम्परा से उसको जोड़ दिया जाय। मनुष्य अगर परम्पराहीन है, विश्वास और आस्थाहीन है, दृश्य से, प्रत्यक्ष से, अदृश्य और अप्रत्यक्ष (हमारी जड़ें अतीत और पृथ्वी के गहरे गर्भ में अदृश्य, अप्रत्यक्ष हैं) से टूटा हुआ है, निर्मूल है तो वह कभी भी व्यक्ति से दर्शक नहीं हो सकता, वह सदा व्यक्ति से 'इण्डिविजुअल' होता रहेगा, वह सबसे और अपने आप से अजनबी रहेगा।

दर्शक होने के लिए एक समान भूमि, एक समान आकाश, ये दोनों तत्व अनिवार्य हैं, अर्थात् 'हम कहीं के हैं', 'किसी के हैं' और कहीं साँस ले रहे हैं। यह जो किसी का होना है, यही व्यक्ति के पदों और मुखौटों को तोड़ सकता है, और उसे व्यक्ति से दर्शक बना सकता है।

दूसरे व्यक्ति की कोई अपनी धरती, कोई अपना आकाश नहीं रह जाता

केवल एक शून्य को लेकर इस भयंकर संकट से जूझ पुराण, इतिहास और विश्व अधिक अभिनेता का योग रंगमंच में जो प्रस्तुतिकरण अभिनय, नृत्य और नृत्य प्राधान्य है उसके पीछे यह अभीमित दुनिया की ओर शौर्य और विरह कथा दायरे हैं, सब एक ही आकाश के

जब हम पुराण, परम्परा अपनी माटी और आकाश है कि आधुनिक रंगमंच में है तो वह व्यक्ति (खण्ड) सकेगा। खण्ड सत्ता भय असुरक्षा के संकट से घिरा

आज का अकेला व्यक्ति चाहे वह नाट्य प्रस्तुतिकरण सामान हो, वह स्वभावतः मजबूर है। यह उसके संरक्षण के लिए आकाश है, पदार्थ है। उपभोक्ता में वह कभी दर्शक हो ही नहीं अपने निजी संघर्षों, अस्तित्व हर समय अपने अस्तित्व के कैसे हो सकता है। एकाक के बिना कोई प्रस्तुतिकरण

आज का शहरी रंगमंच ही और वह भी प्रायः 'कहीं भीतर और बाहर के बीच से जितने सम्पन्न होते हैं और और बेमतलब की फुसंत व्यक्ति सामाजिक होना

मस्तु कह कर

की विशेष पूजा

ना के उत्सव पर

नृत्य शुरू होता

कया जाता था।

के साथ क्रीड़ा

की थी जिस में

इस तरह जब

उनकी मनः-

कया तब नाटक

आगे 'इण्डि-

के लिए किसी

। प्रोटीवस्की

ने प्रतीति और

नाय, न कि उस

ने के लिए यह

म, ओढ़ा हुआ

और व्यक्ति-

म्परा, उसकी

आवश्यक है

दिया जाय।

स्य से, प्रत्यक्ष

गहरे गर्भ में

नी व्यक्ति से

ता रहेगा, वह

ये दोनों तत्व

सांस ले रहे

गैटों को तोड़

ही रह जाता

केवल एक शून्य को ले कर वह अपने अस्तित्व को चरितार्थ किये रहता है। इस भयंकर संकट से जूझने का यही उपाय है कि उसे उसकी परम्परा, पुराण, इतिहास और विश्वास से जोड़ा जाय। इस कार्य में निर्देशक से भी अधिक अभिनेता का योग है। संस्कृत नाटकों और हमारे लोक नाटकों और रंगमंच में जो प्रस्तुतिकरण कला विद्यमान है, विशेषकर अभिनय में अभिनयन, नृत्य और नृत् तथा वाचिक और आंगिक अभिनय का जो इतना प्राधान्य है उसके पीछे यही रहस्य है कि मनुष्य को उसकी सीमित दुनिया अनिर्मित दुनिया की ओर ले जाया जाय। उसे उसके इतिहास, पुराण, शौर्य और विरह कथा द्वारा एक ऐसे जगत में ले जाना है, जहाँ सब समान हैं, सब एक ही आकाश के नीचे, एक ही धरती पर विराजमान सूर्यपुत्र हैं।

जब हम पुराण, परम्परा, धर्म और विश्वास की बात करते हैं, और अपनी माटी और आकाश का प्रसंग छोड़ते हैं तो यह संकेत उससे ही है कि आधुनिक रंगमंच में जिस प्रस्तुतिकरण को देखने कोई व्यक्ति गया है तो वह व्यक्ति (खण्ड) रह कर उस प्रस्तुतिकरण को कभी देख नहीं सकेगा। खण्ड सत्ता भय का ही रूप है। भयभीत और अपने अस्तित्व के असुरक्षा के संकट से घिरा हुआ कोई व्यक्ति भला दर्शक कैसे हो सकता है ?

आज का अकेला व्यक्ति (इण्डिविजुअल) जब भी कुछ देखने जाएगा, चाहे वह नाट्य प्रस्तुतिकरण हो, चाहे उसकी होने वाली पत्नी हाँ या कोई सामान हो, वह स्वभावतः इन सबको एक उपभोक्ता भाव से ही देखने को मजबूर है। यह उसके संस्कार में है कि वह अकेला है, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए आज़ाद है, इस लिए हर सम्बन्ध उसके लिए एक उपभोग्य पदार्थ है। उपभोक्ता में यह जो भूख और भय का बुनियादी भाव है इससे वह कभी दर्शक ही नहीं सकता। उसे सम्भवतः एक क्षण के लिए भी अपने निजी संघर्षों, अस्तित्व संकट का विस्मरण हो ही नहीं पाता। जिसे हर समय अपने अस्तित्व के लोप होने का भय है वह सबके साथ एकाकार कैसे हो सकता है। एकाकार हुए बिना कोई दर्शक नहीं हो सकता। दर्शक के बिना कोई प्रस्तुतिकरण सम्भव नहीं है।

आज का शहरी रंगमंच, जिसमें प्रायः आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति ही और वह भी प्रायः 'फैशन' के लिए नाट्य प्रदर्शन देखने जाते हैं, उनमें भीतर और बाहर के बीच एक भयंकर खाई खुदी होती है। वे बाहर से जितने सम्पन्न होते हैं भीतर से उतने ही कंगाल। बिना कमाया हुआ धन और बेमतलब की फुसंत ये दोनों बातें पतन की वह स्थिति है जहाँ से कोई व्यक्ति सामाजिक होना ही नहीं चाहता। इस व्यक्ति का सारा ध्यान उप-

भोग पर ही केन्द्रित रहता है, कला या सृजन के पीछे जो श्रम, निष्ठा और विवेक लगा हुआ है, उसे कभी नहीं देख सकता। दर्शक के रूप में 'बना' बैठा हुआ वह कभी सहधर्मी नहीं होगा, केवल अपने भय (अहंकार) में कैद रहेगा।

प्रस्तुतिकरण के मूल में पूरे समूह की कल्पना अनिवार्य है। निर्देशक के व्यक्तित्व में अगर यह समूह कल्पना, परम्परा बोध नहीं है तो उसका प्रस्तुतिकरण कभी भी दर्शक सापेक्ष नहीं हो सकता। वह कितना भी आकर्षण पूर्ण, बनाव-शृंगार का क्यों न हो, वह प्रभाव शून्य ही रहेगा। असली प्रस्तुतिकरण वह है जो व्यक्ति को दर्शक बना दे। असली दर्शक वह है जो 'एक्टर' को 'अभिनेता' बना दे।²

रंगमंच का प्रस्तुतिकरण नया से नया प्रयोग होते हुए भी सदा पारम्परिक होगा, यह रंगमंच की अपनी सीमा और मर्यादा है। आजकल के निर्देशक प्रायः प्रयोग को परम्परा से विच्छिन्न मान कर चलते हैं, यह उनका मात्र अज्ञान है। प्रयोग शब्द का अर्थ है—प्र+योग अर्थात् विशेष प्रकार का योग। इसी योग के ही सन्दर्भ में हमारे यहाँ प्रत्येक प्रदर्शन को प्रयोग माना गया है। इस तरह प्रत्येक प्रदर्शन जो प्रयोग, भाव और विश्वास पर आधारित है वह नित नूतन होगा। नित्य नयी अनुभूति वाला होगा।

जो लोग प्रयोग को परम्परा से विच्छिन्न मान कर प्रयोगवादी प्रस्तुतिकरण का अहंकार दिखाते हैं, उनका प्रत्येक प्रदर्शन स्वभावतः उनके पहले प्रदर्शन की जड़वत पुनरावृत्ति होगी। उनका प्रदर्शन, उनके अहंकार का ही व्योमक होगा। अहंकार से व्यक्ति आकृष्ट होता है। व्यक्ति उस अहंकार पूर्ण प्रदर्शन को एक दिल बहलाव, नया मनोरंजन मात्र समझ कर उसे भूल जाता है।

हर प्रस्तुतिकरण अपने मूल स्वभाव में एक कला है। कला की अपनी एक निश्चित परम्परा है। हर परम्परा का अपना निश्चित उद्देश्य और मर्यादाएँ हैं। टामस मान के शब्दों में, 'कला के सामने उच्च भाव के साथ हम एक आज्ञाकारी व्यक्ति हैं, जिसे एक गौरवपूर्ण ध्यान के साथ उस कला का अभिन्न अंग होना पड़ेगा।' यह वह भाव है, जहाँ रंगशाला में आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में एक दूसरा जन्म लेता है। वह जन्म, जब व्यक्ति, दर्शक होता है। वह जन्म, जब व्यक्ति अपने अहंकार की

प्रस्तुतिकरण और नि

सीमा से परे जा क
सन्दर्भ में प्रत्येक प्र
जाति या वर्ण का क
का अवतरण। इस
निकल कर सब स्वी
है, वही नया जन्म है

1. Group identity, individual confrontation, Jerzy Grotowski
2. 'एक्टर' मायने उसकी भूमिका बही करने वाला हुए अपने साथ अभिनय संकेत अभिव्यक्तियाँ हैं

रंगमंच : देखना और जानना

के पीछे जो श्रम, निष्ठा और कला। दर्शक के रूप में 'बना' जल अपने भय (अहंकार) में

ना प्रतिवार्य है। निर्देशक के द्वारा बोध नहीं है तो उसका हो सकता। वह कितना भी वह प्रभाव शून्य ही रहेगा। शक बना दे। असली दर्शक

प्रयोग होते हुए भी सदा और मर्यादा है। आजकल न मान कर चलते हैं, यह प्रयोग अर्थात् विशेष हमारे यहाँ प्रत्येक प्रदर्शन दर्शन जो प्रयोग, भाव और नित्य नयी अनुभूति वाला

न मान कर प्रयोगवादी प्रत्येक प्रदर्शन स्वभावतः गी। उनका प्रदर्शन, उनके आकृष्ट होता है। व्यक्ति या मनोरंजन मात्र समझ

कला है। कला की अपनी ता निश्चित उद्देश्य और मने उच्च भाव के साथ ध्यान के साथ उस कला जहाँ रंगशाला में आया नम लेता है। वह जन्म, कित अपने अहंकार की

प्रस्तुतिकरण और निर्देशक

77

सीमा से परे जा कर दूसरों से जुड़ता है अर्थात् सामाजिक होता है। इस सन्दर्भ में प्रत्येक अभिनेता द्विज (दूसरा जन्म) होता है वह चाहे किसी जाति या वर्ण का क्यों न हो। द्विज होने का अर्थ है उसमें एक नये मनुष्य का अवतरण। इस बात का मर्म यह है कि जहाँ अपनी सीमा से बाहर निकल कर सब स्वीकार कर लिया जाता है, अर्थात् सबका हो जाना होता है, वही नया जन्म है।

सन्दर्भ

1. Group identification with myth, the equation of personal, individual truth with universal truth is possible? First, confrontation with myth rather than identification...
Jerzy Grotowski, *Towards a Poor Theatre* p. 23.
2. 'एक्टर' मानने जो कोई 'एक्ट' कर रहा है। अर्थात् नाटककार और निर्देशक ने उसकी भूमिका के अनुसार जो काम उसे दिया है, और जो वह कर रहा है, वही करने वाला 'एक्टर' है। अभिनेता वह है जो किसी पात्र का अभिनय करते हुए अपने साथ दर्शकों को कहीं ले जा रहा है। 'एक्टिंग' कार्य प्रधान है, अभिनय संकेत और अभिनय प्रधान है। इसमें तमाम मुद्राओं, संकेतों से पूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं।

के पीछे जो श्रम, निष्ठा और कला है। दर्शक के रूप में 'बना' जा सकता है। दर्शक अपने भय (अहंकार) में

अपनी प्रतिबन्धिता को प्रतिबन्धित कर सकता है। निर्देशक के द्वारा बोध नहीं है तो उसका प्रभाव नहीं होता। वह कितना भी प्रभावशाली रहेगा। प्रभाव शून्य ही रहेगा। प्रभाव बनाना दे। असली दर्शक

प्रयोग होते हुए भी सदा और मर्यादा है। आजकल प्रयोग मान कर चलते हैं, यह प्रयोग अर्थात् विशेष प्रदर्शन जो प्रयोग, भाव और नित्य नयी अनुभूति वाला

प्रयोग मान कर प्रयोगवादी प्रत्येक प्रदर्शन स्वभावतः प्रयोग है। उनका प्रदर्शन, उनके प्रदर्शन आकृष्ट होता है। व्यक्ति प्रयोग मनोरंजन मात्र समझ

कला है। कला की अपनी प्रतिबन्धिता निश्चित उद्देश्य और प्रयोग के साथ प्रयोग के साथ उस कला प्रयोग रंगशाला में प्रयोग प्रयोग लेता है। वह जन्म, प्रतिबन्धित अपने अहंकार की

सीमा से परे जा कर दूसरों से जुड़ता है अर्थात् सामाजिक होता है। इस सन्दर्भ में प्रत्येक अभिनेता द्विज (दूसरा जन्म) होता है वह चाहे किसी जाति या वर्ण का क्यों न हो। द्विज होने का अर्थ है उसमें एक नये मनुष्य का अवतरण। इस बात का मर्म यह है कि जहाँ अपनी सीमा से बाहर निकल कर सब स्वीकार कर लिया जाता है, अर्थात् सबका हो जाना होता है, वही नया जन्म है।

सन्दर्भ

1. Group identification with myth, the equation of personal, individual truth with universal truth is possible? First, confrontation with myth rather than identification...
Jerzy Grotowski, *Towards a Poor Theatre* p. 23.
2. 'एक्टर' मानने जो कोई 'एक्टर' कर रहा है। अर्थात् नाटककार और निर्देशक ने उसकी भूमिका के अनुसार जो काम उसे दिया है, और जो वह कर रहा है, वही करने वाला 'एक्टर' है। अभिनेता वह है जो किसी पात्र का अभिनय करते हुए अपने साथ दर्शकों को कहीं ले जा रहा है। 'एक्टिंग' कार्य प्रधान है, अभिनय संकेत और अभिनय प्रधान है। इसमें तमाम मुद्राओं, संकेतों से पूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं।

अभिनय और अभिनेता

ड्रामा में 'एक्ट' है, एक्ट से ही 'एक्शन' होता है। स्वभावतः जो 'एक्शन' करने वाला होता है— वही 'एक्टर' है।

भारतीय रूपक, नाटक में पात्र अंक में है। अंक में सम्भाल कर अभिनेता 'कुछ' ले जा रहा है, जाते हुए दर्शकों को भी वह अपने साथ ले जा रहा है। यही नहीं वह किसी विशेष दिशा, लक्ष्य और फल प्राप्ति की ओर ले जा रहा है तभी तो वह है अभिनेता। संस्कृत में अभिनेता शब्द में अभि उपसर्ग है जिसका अर्थ है—किसी विशेष दिशा की ओर, नय का मतलब है—ले जाना, अर्थात् जो अपनी कला से दर्शकों को, नाटक और स्वयं को किसी विशेष दिशा में ले जाय उस कला का नाम अभिनय है और उस कला का कलाकार अभिनेता है। अपनी दृष्टि अनुसार पश्चिम का मनुष्य, पश्चिम का ड्रामा 'एक्शन' से भरा हुआ है। हर वक्त काम, क्रिया व्यापार, अपने कार्यों से वह यहीं और अभी जीवन का सारा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहता है, उसकी चिन्ता फल प्राप्ति की नहीं है, क्योंकि उसका अदम्य विश्वास बल्कि अहंकार है कि फल तो उसे प्राप्त हो कर ही रहेगा। इस लिए उसके कार्यों के पीछे असली प्रेरणा वह है जो हर चीज के विषय में, चाहे वह सम्बन्ध हो या अस्तित्व प्रश्न, चाहे कोई किसी तरह की लड़ाई हो, इन सब के बारे में वह अपने अबाध उद्यमों द्वारा सारा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहता है। न उसे अदृश्य पर विश्वास है, न उसे किसी तरह का कोई संकोच है। वह सब कुछ अपने इसी जीवन में ही देख और जान लेना चाहता है। इसीलिए ड्रामा के एक्टर में और स्वयं ड्रामा के चरित्रों में इतना अधिक कार्य व्यापार भरा पड़ा है। वह स्वगत कथन भी करता है तो ध्यान लगा कर चुप नहीं बल्कि उसका, 'सोचना' और 'करना' तथा 'कहना' यह सब कुछ उसके द्वारा किये जा रहे कार्यव्यापारों के भीतर ही होता है।

भिन्न कर, विलीन कर दैसे ही योग 'युक्त' होना चाहते हैं, अर्थात् मिलन चाहते हैं। श्रेष्ठ काव्य, नाटक अथवा संगीत इसी वियोग का अनुभव देकर संयोग के रस का आस्वादन देता है। भारतीय संस्कृत नाटक के जो श्रेष्ठ उदाहरण हैं, उसका आधार यही भाव है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में अभिनय और अभिनेता के उपर इतना प्रकाश डाला गया है, उसके पीछे नाटक के माध्यम से यही रसास्वादन कराना परम लक्ष्य है जो किसी भी अभिनेता के लिए बहुत कठिन चुनौती है। अभिज्ञान शाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम्, उत्तररामचरितम् नाटकों में वाचिक अंश और अभिनय अंश, इन दोनों में इतनी नाट्य स्थितियाँ इसी लिए रची गयी हैं कि अभिनय के घरातल पर उन्हें प्रस्तुत कर दर्शक और श्रोता समुदाय को वर्तमान देश-काल से हटा कर देश कालातीत करने का कलात्मक उद्यम किया जा सके।

नाट्यशास्त्र में भरत ने अभिनय का विवेचन बड़े विस्तार से किया है। आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक, ये चारों प्रकार की अभिनय प्रक्रियाएँ नाट्य में हैं। आंगिक अभिनय में एक-एक शारीरिक अंग-उपांग के तमाम अभिनय बताये गये हैं। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा कि नयन और दृष्टि के छत्तीस प्रकार के अभिनय होते हैं जिनमें से आठ रसों की, आठ स्थायी भावों की, बीस संचारी भावों की दृष्टियाँ होती हैं। आँख, पलक, भौंह, नाक, कपोल, अधर, चिबुक, मुख, ग्रीवा, हस्त; विविध मुद्राओं जैसे सुमुख मुद्रा, सम्पुट मुद्रा, वितत, विस्तीर्ण, विस्तीर्ण, त्रिमुख, चतुर्मुख, पंचमुख, दशम, व्यापकाञ्जलि, यशपाल, गन्धित, तथा घेनु, ज्ञान, वैराग्य पद और इनकी योनि, शंख, लिंग और निर्वाण आदि अभिनय तत्त्वों का समावेश होता है। इसी प्रकार वाचिक, सात्विक, आहार्य में भी कितना विस्तार है, उसे देख कर हम आज आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

अभिनेता अपनी क्रिया में कितना व्यापक है, नाट्यशास्त्र के अभिनय अध्याय को पढ़ कर हमें इसका अनुमान ही जाता है। केवल हस्त अभिनय में कितनी सहस्र मुद्राएँ नाट्यशास्त्र में दी गयी हैं, उसको पढ़ कर हम विस्मय में पड़ जाते हैं। इसके अलावा भारतीय अभिनय में 'चारि', 'मण्डल', 'भ्रमरी', 'उत्प्लव', 'स्थानक' (खड़े होने का ढंग), 'मण्डल' और 'गति', 'करण' 'अंगहार' और 'रेचक' के अर्थ, प्रयोग और उनके विस्तारों को देख कर भास, कालिदास, शूद्रक आदि के नाटकों में व्याप्त अभिनय तत्त्व से अभिभूत हो जाते हैं। इसी तरह वाचिक अभिनय के अन्तर्गत पाठ्य की छह बातें, स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार और अंग आती हैं। इसके बाद पाठ्य के भी छह अंग माने गये हैं, विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन,

और प्रशमन। इन अंगों का प्रयोग विभिन्न नाटकों के, विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार अलग-अलग होता है।

इस सम्पूर्ण अभिनय को ध्यान में रख कर अब हम उस काल के अभिनेता के बारे में सोचते हैं तो दो बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं। पहली, अभिनेता चूँकि किसी पात्र की भूमिका प्रस्तुत करता है और अपने अभिनय के साथ वह दर्शक समाज को देश काल से परे ले जाना चाहता है, इसलिए उसकी अभिनय कला में शरीर के विभिन्न धरातलों से 'कहीं', ले जाने का अधिक प्रयास होता है। दूसरी बात, अभिनेता अपनी अभिनय कला से सदा यह स्थापित करना चाहता है कि अभिनेता दुष्यन्त नहीं है बल्कि दुष्यन्त का अभिनय कर रहा है। इन दोनों बातों के पीछे जो सत्य है वह वस्तुतः भारतीय जीवन दृष्टि है, जिसे हमारे पुरखों ने 'लीला' कहा है। इस अभिनय में चूँकि किसी पात्र का अभिनय अभिनेता कर रहा है और जितने दर्शक उसे देख रहे हैं, वे भी अपने-अपने पात्र हैं। इन दोनों प्रकार के पात्रों में रस भरना, यही भारतीय जीवन नाट्य, अभिनय का अभीष्ट है।

इस अभिनय में कार्य व्यापार, संघर्ष और भाग-दौड़ नहीं है। चूँकि वियोग से 'योग' की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए ही सारा अभिनय हो रहा है इसलिए यहाँ अभिनेता साधारण 'कार्यकर्ता' नहीं हैं; वह कलाकार, साधक और योगी है। वह जब अभिनय करता है तो हर स्थिति और अवस्था को भाव के धरातल पर उसी तरह प्रतिष्ठित करता है जैसे गायक, वादक, नर्तक या कोई वास्तुशिल्पी कर रहा हो। इसके उदाहरणों से सारा संस्कृत नाटक भरा हुआ है। विक्रमोर्वशीयम् नाटक के चतुर्थ अंक के पुरुषवा से उर्वशी बिछड़ जाती है। बिछड़ कर जंगल में एक लता हो जाती है। वह लता पुरुषवा के बिल्कुल समीप है। किन्तु विरही पुरुषवा अपने स्थान से उस लता तक जाने में, लता को स्पर्श कर उसे पुनः उर्वशी के रूप में पाने में इतना लम्बा नाट्य करता है कि उसके अभिनय में किसी अभिनेता को डेढ़ घण्टे से कम समय नहीं लगेगा।

भारतीय अभिनेता पात्र की प्रतिष्ठा करता है। वह पात्र की अवस्थाओं को दिखाता है। उन अवस्थाओं के भीतर से भाव को रस भूमिका तक ले जाता है, अर्थात् पात्र को रस से भरता है, अर्थात् वियोग से चल कर संयोग तक पहुँचाता है। भारतीय अभिनेता एक श्रेष्ठ लीलाधारी है जो बोल कर भी हर शब्द, हर स्थिति, हर भाव मुद्रा का अभिनय करता है। वह हमें हमारे वर्तमान देश-काल से अपनी कला द्वारा 'परे' ले जाता है।

अभिनय और अभिनेता

अभिनय और अभिनय विद्वान कहते हैं कि संस्कृत है कि हम जो कर्म करते हैं, उसके पीछे कोई न सारे आचरण, कार्य हैं तो कह सकते हैं कि तो हम देखेंगे कि जो को ही ढूँढते हैं। पर में बदलने का भ्रम मा

अभाव क्या है? जानते। उदाहरण के तरह तमाम अध्ययन के पीछे वह मूल ऊर्जा हैं? जहाँ द्वैत है, क्रिया व्यापार ही कारण है, वहाँ क्रिया सारी यात्रा द्वैत से स्वार्थ से परमार्थ की हमारे कर्म में, चाहे इसमें परस्पर भावन

यह जान कर आपने बताया है कि "का द्वारा क्रिया के रूप में सा लगता हुआ 'भाव तीनों ने यह बताया है, उस धातु का अर्थ है। सब कुछ मिट नाटककार, अभिनेता भारतीय अभिनय का

पश्चिम के ड्रामा अलग है। 'एक्टिंग'

अभिनय और क्रिया व्यापार के रहस्य को हम श्रीर समझ लें। आधुनिक विद्वान कहते हैं कि संस्कृत नाटक में कार्य व्यापार का अभाव है। प्रश्न यह है कि हम जो कर्म करते हैं, उसके पीछे प्रेरणा क्या है? हम जो कुछ भी करते हैं, उसके पीछे कोई न कोई अभाव होता है। अभाव के भीतर से ही हमारे सारे आचरण, कार्य व्यापार, चेष्टाएँ, प्रयत्न निकलते हैं। एक तरह से कहें तो कह सकते हैं कि अभाव का स्वभाव है 'विभाव'। श्रीर गहराई से देखें तो हम देखेंगे कि जो कुछ भी हम करते हैं उसके द्वारा दरअसल अपने आप को ही ढूँढते हैं। पर जो 'है' उसमें अपने आप को ढूँढना अभाव को भाव में बदलने का भ्रम मात्र है।

अभाव क्या है? अभाव यही है कि हम अपने 'स्वभाव' को नहीं जानते। उदाहरण के लिए पैर हिलाना, शास्त्र की भाषा में 'विभाव' है। इसी तरह तमाम अश्ववसाय सब विभाव हैं। प्रश्न यह है कि इन सारे विभावों के पीछे वह मूल ऊर्जा क्या है, कहाँ है, जिसके कारण सारे विभाव हो रहे हैं? जहाँ द्वैत है, आदि से अन्त तक द्वैत है (पश्चिम, आधुनिक) वहाँ केवल क्रिया व्यापार ही व्यापार है। किन्तु जहाँ द्वैत नहीं, द्वैत केवल अज्ञान के कारण है, वहाँ क्रिया व्यापार की उतनी स्थितियाँ नहीं होंगी, क्योंकि वहाँ सारी यात्रा द्वैत से अद्वैत की ओर हो रही है; अज्ञान से ज्ञान की ओर, स्वार्थ से परमार्थ की ओर, कर्म से फल की ओर हो रही है। इसी तरह हमारे कर्म में, चाहे वह क्रिया स्तर का हो, चाहे अभिनय स्तर का हो, इसमें परस्पर भावन का तत्त्व प्रमुख है।

यह जान कर आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए कि पतंजलि, भर्तृहरि ने बताया है कि "काल के साथ सीमित सा प्रतीत होने वाला रूप 'अस्ति' द्वारा क्रिया के रूप में ज्ञात होता है। पर वही रूप चारों ओर से कालहीन सा लगता हुआ 'भाव' कहलाता है।" पाणिनि, पतंजलि और भर्तृहरि इन तीनों ने यह बताया है कि क्रिया, कर्म, जिनका मूल सम्बन्ध 'कृ' धातु से है, उस धातु का अर्थ ही भाव होता है। भाव में ही क्रिया छिपी रहती है। सब कुछ भिट जाने पर भी केवल भाव विद्यमान रहता है। हमारे नाटककार, अभिनेता 'क्रिया व्यापार' को इसी भाव के रूप में लेते रहे हैं। भारतीय अभिनय को समझने का रहस्य इसी शब्द में छिपा हुआ है।

पश्चिम के ड्रामा के 'कैरेक्टर' की 'एक्टिंग' का सत्य इससे बिल्कुल अलग है। 'एक्टिंग' की बुनियाद 'एक्शन' है। 'एक्शन' क्या है? इसे

जानना बहुत जरूरी है। इण्डो-यूरोपीय भाषा संस्कार में एक्शन 'एगोन' शब्द से निकला है जिससे 'एगोनी' शब्द निकलता है। लैटिन भाषा में 'एगोन' विशिष्ट अर्थ में इस्तेमाल हुआ है। 'एगोन' उस पादरी (प्रीस्ट) को कहते हैं, जो बलि पूजा में जानवर की बलि चढ़ाता है। गहरे अर्थ में चाहे वह भारत हो या पश्चिम, हर कर्म एक बलिदान है। ईसाई धर्म में खास कर प्राचीन ईसाई धर्म में मध्ययुग तक 'एक्शन' के बारे में जो धार्मिक सिद्धान्त हैं उन्हें जान लेना एक सार्थक अनुभव प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्न है। वहाँ 'एक्शन' को बलिदान के ही रूप में लिया गया है।

पहला बलिदान अपने व्यक्तित्व का है, वह व्यक्तित्व जो 'मैं' (इगो) में व्यक्त होता है। दूसरा 'एक्शन' प्रभु (या ईसा) के प्रति विनय, समर्पण के भाव को लेकर होता है।³

तीसरा, कर्म में अपने पापों के प्रति प्रायश्चित्त का भाव है।

चौथा, व्रत और उपवास का है।

पांचवा, हर वस्तु और कर्म को मनुष्य और ईश्वर से सनातन सम्बन्धों के भीतर से अनुभूत करना है।

छठा, लोम, इन्द्रिय सुख आदि से अपने को पवित्र रखना है।⁴

सातवाँ, शान्ति और अहिंसा का जीवन जीना है।⁵

क्रिया के प्रति ईसाई धर्म के ये विचार पश्चिम के अध्यात्म में सदा सुरक्षित रहे हैं। परन्तु आधुनिक 'ड्रामा' में क्रिया के प्रति ये सारे धार्मिक विश्वास कहीं नहीं रह गये हैं। उनके यहाँ धार्मिक नाटक एक विशेष प्रकार बन कर अलग-थलग पड़ा हुआ है।

भारतवर्ष में, विशेष कर हमारे प्राचीन नाट्य में, नाट्य रचना से लेकर अभिनय, प्रस्तुतिकरण, नाट्य गृह, दर्शक समाज इन सारे धरातलों से सर्वत्र हमारा धर्म, हमारा अध्यात्म, हमारा सौन्दर्यबोध बल्कि हमारा कर्मकाण्ड और हमारी परम्पराएँ; सब कुछ हमारे जीवन, कार्य व्यापार के साथ ही प्रगट होता है। धार्मिक नाटक जैसा कोई भी प्रकार अलग से हमारे यहाँ नहीं है। मध्ययुग से अवश्य धार्मिक नाटकों का एक अलग प्रकार मिलने लगता है, किन्तु उस में भी यथार्थ जीवन का आधार और हस्तक्षेप कम नहीं है।

रंगमंच के सन्दर्भ में अभिनय और अभिनेता के स्तर से कौन सा कर्म रंग लाता है? कर्म जो पुरुष⁶ द्वारा किया गया है, स्वभावतः वही रंग लायेगा। किन्तु जो विकृत मनुष्य द्वारा किया जायेगा, वह कर्म कहीं से:

होगा? पर अभिनय

अभिनय किया जा

'प्ले' अथवा

कर्मचारी नहीं।

कोई कलाकार न

अभिनेता कैसे क

प्रोटोवस्की ने

जवाबों के भीतर

क्या थिए

हाँ, सम्भव

क्या थिए

क्या थिए

पर क्या थि

नहीं, बिस्

अनिवार्य

कि जो अभि

बीच में घ

सहायक

संस्कृत ना

निर्देशक यह क

कर उनकी उपे

अभिनेता जो

संवादों के भी

जाने के लिए न

नय है, फिर व

अभिनय है।

जो अभिने

करता है वह क

सबसे सरल अ

रचना नहीं क

करता है, तो अ

य भाषा संस्कार में एक्शन 'एगोन' शब्द निकलता है। लैटिन भाषा में 'एगोन' उस पादरी (प्रीस्ट) की बलि चढ़ाता है। गहरे अर्थ में कर्म एक बलिदान है। ईसाई धर्म में ग तक 'एक्शन' के बारे में जो धार्मिक अनुभव प्राप्त करने की दिशा में के ही रूप में लिया गया है। है, वह व्यक्तित्व जो 'मैं' (इगो) में (या ईसा) के प्रति विनय, समर्पण

प्रायश्चित्त का भाव है।

पुण्य और ईश्वर से सनातन सम्बन्धों

पने को पवित्र रखना है।⁴

विवन जीना है।⁵

व्यचार पश्चिम के अध्यात्म में सदा 'ग' में क्रिया के प्रति ये सारे धार्मिक के यहाँ धार्मिक नाटक एक विशेष है।

चीन नाट्य में, नाट्य रचना से ले दर्शक समाज इन सारे धरातलों से हमारा सौन्दर्यबोध बल्कि हमारा कुछ हमारे जीवन, कार्य व्यापार के क जैसा कोई भी प्रकार अलग से धार्मिक नाटकों का एक अलग भी यथार्थ जीवन का आधार और

अभिनेता के स्तर से कौन सा कर्म किया गया है, स्वभावतः वही रंग किया जायेगा, वह कर्म कहाँ से:

होगा? पर अभिनय के स्तर से यदि विकृत मनुष्य के कर्म का सम्पूर्ण अभिनय किया जाय तो उससे रंग अवश्य पैदा होगा।

'प्ले' अथवा नाटक से जुड़ा हुआ व्यक्ति अभिनेता होता है, मजदूर या कर्मचारी नहीं। आज, वर्तमान समय में औद्योगिक संस्कृति के कारण अब कोई कलाकार नहीं रह गया है, सब कर्मचारी और मजदूर हो गये हैं। तो अभिनेता कैसे कलाकार बन कर रह सकता है?

ग्रेटोवस्की ने 'एक्टर' की स्थिति के बारे में कुछ सवाल किये हैं। उनके जवाबों के मीतर से 'एक्टर' का पूरा स्वरूप प्रकट होता है। उसने पूछा है:

क्या थिएटर बस विन्यास और मंच सज्जा के बिना सम्भव है? हाँ, सम्भव है।

क्या थिएटर सहयोगी संगीत के बिना सम्भव है? हाँ, सम्भव है।

क्या थिएटर नाट्यकृति के बिना सम्भव है? हाँ, सम्भव है।

पर क्या बिना अभिनेता के कोई थिएटर या रंगमंच सम्भव है? नहीं, बिल्कुल नहीं। एक अभिनेता और एक दर्शक, यही दो अनिवार्य तत्व हैं। इस तरह हम थिएटर की यह परिभाषा करते हैं कि जो अभिनेता अथवा 'एक्टर' तथा दर्शक अथवा 'स्पेक्टेटर' के बीच में घटता है वही थिएटर या रंगमंच है। अन्य सारे तत्व केवल सहायक मात्र हैं।⁷

संस्कृत नाटकों के संवादों को पढ़ कर आज का अभिनेता, अध्येता, निर्देशक यह कहता है कि ये संवाद लम्बे हैं। इन संवादों को लम्बा जान कर उनकी उपेक्षा करता है, और उन्हें महत्वहीन बताता है। लेकिन सही अभिनेता जो वास्तव में अभिनय कला का स्वामी है वह संस्कृत के उन संवादों के भीतर छिपे हुए इस तत्व को पकड़ेगा कि ये संवाद केवल बोले जाने के लिए नहीं हैं, बल्कि ये 'वाचिका' हैं। वाचिका से पहले पूर्व अभिनय है, फिर वाचिका का वाचिक अभिनय है, तत्पश्चात् उत्तरवाचिक अभिनय है।

जो अभिनेता केवल संवाद बोलता है अथवा केवल संवाद का अभिनय करता है वह कैसा अभिनेता है! संवाद का केवल वाचिक अभिनय करना सबसे सरल और हल्का काम है, क्योंकि ऐसे अभिनेता अपनी तरफ से कोई रचना नहीं करते। संवाद के साथ अभिनेता जब अपनी ओर से 'रचना' करता है, तो अभिनय कला हो जाती है।

प्रत्येक मनुष्य की तरह अभिनेता भी काफी सम्बन्धहीन व्यक्ति है। हम सम्बन्धों का एक मुखौटा सदैव पहने रहते हैं। इसी मुखौटे के कारण अभिनेता का नाटक के किसी पात्र या चरित्र से कभी कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं हो पाता। इस मुखौटे का हटना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त अभिनेता की दूसरी सच्चाई यह है, चूंकि उसे विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ करनी पड़ती हैं, इसलिए वह नितान्त अकेला हो जाता है। इसी अकेलेपन को ढकने के लिए उसे मुखौटा लगाना पड़ सकता है। इस मुखौटे को तोड़ कर पात्र की भूमिका में अवतरित होना अर्थात् सम्बन्धित होना कठिन काम है। इसके लिए प्राचीन रंगमंच में और विशेषकर लोक रंगमंच परम्परा में 'पूर्वरंग', 'पूजा', 'नृत्य' अथवा 'संगीत' का प्रयोग होता है कि अभिनेता का व्यक्ति का मुखौटा टूट जाय और वह कलाकार अभिनेता हो जाय; उसके अभिनेता से पात्र या चरित्र का सहज सम्बन्ध जुड़ जाय।

आधुनिक समाज में व्यक्ति चूंकि अपने यथार्थ जीवन में विभिन्न परिस्थितियों में तमाम भूमिकाएँ करते-करते स्वभावतः अकेला हो जाता है और उसे एक अदृश्य मुखौटा ओढ़ना पड़ता है। वही आधुनिक व्यक्ति जब किसी महफिल में धीरे-धीरे शराब पी कर (यही उसका पूर्व रंग है) अपने मुखौटे को तोड़ कर अपनी असलियत में आता है तभी वह अभिनेता बन जाता है। पर इस आधुनिक मनुष्य का दुर्भाग्य दोहरा है। तब वह बकवास करता है क्योंकि वह सम्बन्धित नहीं हो पाता, उसके और सम्बन्धों के बीच में शराब होती है। अभिनेता और उसकी भूमिका में यदि कोई नशे का सम्बन्ध है, तो वहाँ भी अभिनय कला नहीं बन सकती।

प्रसिद्ध नाट्यनिर्देशक पीटर ब्रूक ने अपनी पुस्तक द एम्पटी स्पेस में एक संस्मरण बताया है कि वह एक बार कोमिदिया फ्रांसे में एक रिहर्सल देख रहे थे जिसमें एक युवा एक्टर एक वृद्ध एक्टर के सामने खड़े हो कर इस तरह अभिनय करते हुए संवाद बोल रहा था मानो वह किसी आदमि के सामने खड़ा हो कर अभिनय अभ्यास कर रहा हो और जहाँ दर्पण भी उस अभिनय अभ्यास में सजीव रूप से भाग ले रहा हो। इसका अर्थ यह हुआ कि अभिनय कला एक पारम्परिक कला है। वृद्ध एक्टर से नया एक्टर 'एक्टिंग' का अर्थ और उसका रहस्य प्राप्त करता है। पुरानी कला नये के ही प्रसंग में बार-बार जाँची जानी चाहिए और समसामयिक सन्दर्भ में ही परम्परा को स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी को हमारे यहाँ 'पुनर्नवा' की संज्ञा दी गयी है।

अभिनय और अभिने

पीटर ब्रूक ने उ
'प्रसंग में थिएटर को
'थिएटर'; 'द रफ थि
उसने 'डेडली' य
अथवा जड़ होकर र
नृत्यप्रधान, 'नोबुल'
दिया गया है।

अभिनेता का य
सम्बन्ध है जब अभि
और उसका अपने
सम्बन्धों से तीन भ
मंच के प्रति एक स
रहने की प्यास; क
हर बार एक नयी

सिद्धान्त रूप मे
के लिए। परन्तु व
सकता है जितना उ
उतने की ही जीव
आता है। पर कल
की सीमा में बांध
गयी भूमिका के अ
जल्द पड़ेगा, कभ
देखना, सुनना औ
वित्त में यह सत्य
'कुछ' ले जा रहा
समान विश्वास है
से वहाँ तक जो प
अनिवार्य है।⁹

नाटक का प्रा
यात्रा से पूर्व का
प्रकाश उभरता है
अवतरण के साथ
के अनुभव और

व्यक्ति है। हम
सी मुलौटे के कारण
कोई सम्बन्ध सम्भव

है, चूँकि उसे विभिन्न
तान्त अकेला हो जाता
माना पड़ सकता है।
ततरित होना अर्थात्
रंगमंच में और विशेष-
'अथवा 'संगीत' का
टूट जाय और वह
या चरित्र का सहज

न में विभिन्न परि-
अकेला हो जाता है
ही आधुनिक व्यक्ति
उसका पूर्व रंग है)
तभी वह अभिनेता
सोहरा है। तब वह
पाता, उसके और
उसकी भूमिका में
नहीं बन सकती।
द एस्पटी स्पेस में
से में एक रिहर्सल
सामने खड़े हो कर
ही वह किसी आइने
और जहाँ दर्पण भी
। इसका अर्थ यह
इ एक्टर से नया
है। पुरानी कला
मसामयिक सन्दर्भ
को हमारे यहाँ

पीटर ब्रुक ने उपर्युक्त पुस्तक में ही में अभिनय और प्रस्तुतिकरण के प्रसंग में थिएटर को चार रूपों में देखा है : 'द डेडली थिएटर'; 'द होली थिएटर'; 'द रफ थिएटर'; 'द इमिडिएट थिएटर'।

उसने 'डेडली' या मृतप्राय उसे कहा है जो किसी भाल विशेष में बैधा अथवा जड़ होकर रह गया है और उसे शास्त्रीय, प्राचीन, संगीत प्रधान, नृत्यप्रधान, 'नोबुल', 'हीरोइक' रोमांटिक आदि नाम देकर बद्धमूल कर दिया गया है।

अभिनेता का या उसकी अभिनय कला का निरन्तर विकास तभी सम्भव है जब अभिनेता का अपनी 'भूमिका' से सच्चा सम्बन्ध हो; दूसरी ओर उसका अपने दर्शक समाज से सीधा, सहज, अन्तरंग सम्बन्ध हो। इन सम्बन्धों से तीन महत्वपूर्ण चीजें पैदा होती हैं। पहला, नाटक और रंगमंच के प्रति एक सहज प्यार; दूसरा, उत्तरोत्तर सबसे सम्बन्धित होते रहने की प्यास; तीसरा, एक ही भूमिका को बार-बार करने से उसमें हर बार एक नयी अनुभूति (रस) का सृजन।

सिद्धान्त रूप में नाटककार पूर्ण स्वतन्त्र है, रंगमंच पर कुछ भी लाने के लिए। परन्तु वह जीवन का उतना ही हिस्सा मंच पर उपस्थित कर सकता है जितना उसकी कल्पना में आता है। इस अनुपात में अभिनेता उतने को ही जीवन यथार्थ मानने को विवश है जो उसकी भूमिका क्षेत्र में आता है। पर कलाकार अभिनेता वह है जो जीवन यथार्थ को इस मजबूरी की सीमा में बाँध कर न देखे। अभिनेता का अभिनय अगर नाटक में बो-नयी भूमिका के अनुसार सीमित है तो दर्शक को नाटक बोलते हुए दिखाई जरूर पड़ेगा, कभी सुनाई नहीं पड़ेगा। नाटक अभिनेता के माध्यम से देखना, सुनना और जानना तभी सम्भव है जब उसके चरित्र और व्यक्तित्व में यह सत्य सदा विद्यमान रहे कि वह अन्धकार से प्रकाश की ओर 'कुछ' ले जा रहा है। हिन्दू, ईसाई और मुस्लिम इन तीनों मतों में यह समान विश्वास है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है। स्वर्ग से पृथ्वी तक, यहाँ से वहाँ तक जो फासला (विरह) है, उसे पार करने के लिए यह यात्रा अनिवार्य है।¹⁵

नाटक का प्रारम्भ होने से पूर्व मंच पर अन्धेरा होता है। यह अन्धेरा यात्रा से पूर्व का अन्धेरा है। अभिनेता के प्रवेश के साथ-साथ मंच पर प्रकाश उभरता है। यह यात्रा के शुभारम्भ का प्रकाश है। अभिनेता के अवतरण के साथ-साथ दर्शक धीरे-धीरे अभिनेता के अंक में बैठा हुआ सत्य के अनुभव और 'अभिज्ञान' से अभिभूत होने लगता है, जो अभिभूत कर

ले जाय, वही अभिनेता है। अभिनेता व्यक्ति का अभिनय नहीं करता वह व्यक्ति की भूमिका को निर्बैयक्तिक हो कर करता है—स्वयं को भूल कर दूसरे की भूमिका में प्रवेश करना या अवतरण करना, यही दैवी भूमिका है।

पारम्परिक भारतीय अभिनेता अभिनय, नृत्य, संगीत, विशेष कर लोक रंगमंच, लोक नृत्य, लोक संगीत में ईश्वर, देव, देवी, के वन्दन से ही अपना कार्य शुरू करता है, वह एक ओर अपनी सफलता के लिए पूजा वन्दना करता है, दूसरी ओर क्षमा-याचना करता है, इसलिए कि वह ईश्वरीय क्षेत्र में प्रवेश करने का साहस कर रहा है। 'भूमिका' शब्द का यही अर्थ है, दूसरे की भूमि का होना या उसमें जीने वाला या उसमें प्रवेश करने वाला। इसी अर्थ में अभिनेता का कर्म सम्पन्न होता है। कर्म अपने दोनों अर्थों में। पहला, अभिनय कर्म; दूसरा, शुद्ध कर्म। जिन्दगी में हम क्रिया के स्थान पर प्रतिक्रिया का जीवन जीते हैं। किन्तु मंच पर अभिनेता शुद्ध कर्म करता है। वह जानता है, और यह ज्ञान नितान्त आवश्यक है कि 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरी भूमिका है।' यह ज्ञान और शुद्ध कर्म का आधार है। शुद्ध कर्म में किसी फल की लालसा नहीं रहती। जिससे जीवन में रंग आता है, निष्काम भाव से किया गया कर्म, वही कर्म रंगमंच पर भी रंग पैदा करता है।

मनुष्य में दो रूप हैं दिव्य और मानवीय। जीवन मंच पर जब कोई अभिनेता या व्यक्ति अवतरित होकर (आत्मज्ञान) अपनी भूमिका निभाता है, तब वह अपने स्वभाव, दिव्य भाव में आता है। कर्म का मूल है अभाव। हम सब अपने स्वभाव की तलाश में तरह-तरह के अभिनय कर रहे हैं, जिस दिन हमें अपने स्वभाव का ज्ञान हो जायेगा, हमारा अभिनय सकाम और सम्पूर्ण हो जायेगा।

शिव नटराज हैं और कृष्ण नटवर। ये दोनों इसी लिए नटराज और नटवर है, क्योंकि ये स्वयं अपने 'स्वभाव' में है, और हम सब का भाव से 'स्वभाव' में ले आने के लिए सार्थक संकेत कर रहे हैं। लीला का एक अर्थ है लीलना। लीलने की अत्यधिक शक्ति अग्नि में है। अग्नि की लपटें ही उसकी असंख्य जिह्वाएँ हैं, इन्हीं जिह्वाओं से वह सबको लीलती है। लीलने का अर्थ है, लीला (अभिनय) और लीला का अर्थ है, सब कुछ दिखाई दे जाना, प्रत्यक्ष से परोक्ष तक।

1. महामहोपाध्याय श्री
2. कालानुपालि यद् रू
परिवस्तु परिच्छिन्न
3. The meek 'shal
4. Blessed are the
For they shall
5. Blessed are the
For they sha ll
6. पुरुष का तत्पर्य है
7. 'What takes pl
8. बल्लाह का ही स्व
तथा धरती और
पूरा करनी ही या

का अभिनय नहीं करता
कर करता है—स्वयं को
प्रवर्तण करना, यही दैवी

नृत्य, संगीत, विशेष कर
; देव, देवी, के वन्दन से ही
की सफलता के लिए पूजा
करता है, इसलिए कि वह
है। 'भूमिका' शब्द का
में जीने वाला या उसमें
कर्म सम्पन्न होता है। कर्म
रा, शुद्ध कर्म। जिन्दगी में
जीते हैं। किन्तु मंच पर
र यह ज्ञान नितान्त प्राव-
है।' यह ज्ञान और शुद्ध
की लालसा नहीं रहती।
किया गया कर्म, वही कर्म

। जीवन मंच पर जब
मज्ञान) अपनी भूमिका
आता है। कर्म का मूल है
ह-तरह के अभिनय कर
जायेगा, हमारा अभिनय

इसी लिए नटराज और
गीर हम सब का भाव से
हैं। लीला का एक अर्थ
है। अग्नि की लपटें ही
वह सबको लीलती है।
का अर्थ है, सब कुछ

सन्दर्भ

1. महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, भाग 2
द्वि० सं० 1979, पृष्ठ 219.
2. कालानुपाति यद् रूपं तदस्तीति प्रतीयते ;
परिवस्तु परिच्छिन्नं भाव इत्येव कथ्यते ॥
भर्तृहरि, वाक्यदोष 3।8।12
3. The meek 'shall inherit the earth.'
—बाइबिल
4. Blessed are the pure of heart;
For they shall be called the children of God.
—वही
5. Blessed are the peace makers;
For they shall be called the children of God.
—वही
6. पुरुष का तात्पर्य है जो अपने अन्तःपुर में स्थित है। द्रष्टव्य, पुरुष सूक्त।
7. 'What takes place between spectator and actor.
Jerzy Grotowski, *Towards a Poor Theatre*, p. 32.
8. अल्लाह का ही स्वर्ग और धरती पर आधिपत्य है। इनके (स्वर्ग और अल्लाह
तथा धरती और अल्लाह के) बीच का फासला और अल्लाह तक का फासला
पूरा करनी ही यात्रा है।
—अल कुरान 5।18.

देखना और जानना

रंगमंच नाटक के प्रस्तुतिकरण की कला है। प्रस्तुतिकरण, प्रदर्शन का आधार है 'देखना'। देखने के लिए हमारे पुरखों ने जिस शब्द का इस्तेमाल किया है, वह है 'प्रेक्षा'। इसी से बना है प्रेक्षक, प्रेक्षागृह, प्रेक्षणीयता। प्रेक्षा को समस्त कलाओं में साधना के स्तर पर ग्रहण किया गया है, देखना साधना है। देखना आसान काम बिल्कुल नहीं है।

हम सब अपने जीवन और इस जगत में क्या देखना चाहते हैं? देख कर जानना क्या चाहते हैं? देखना और जानना चाहते हैं, सत्य। सत्य को देखने और जानने के दो साधन हैं। एक है विचार, चिन्तन; दूसरा, है देखना। इस देखने में ध्यान पहली सीढ़ी है। हम सब सोचने विचारने से बहुत परिचित हैं, किन्तु देखने से बिल्कुल अपरिचित हैं। आप कहेंगे कि हम सभी लोग हर वक्त देखते ही तो रहते हैं पर कला के सन्दर्भ में यह देखना नहीं है। अपने जीवन में जो आप इस कदर देखने, सुनने, खाने, पीने, सूँघने की इतनी बातें करते हैं वे वस्तुतः देखना सुनना, खाना, पीना सूँघना नहीं हैं। दरअसल वह सब कुछ आप नहीं देख, सुन, खा, पी, सूँघ रहे हैं; वह आप का मन देख, सुन, खा, पी, सूँघ रहा है।

आप स्वयं रंगशाला में अथवा जीवन की रंगशाला में जिस क्षण दर्शक बनें और दर्शक बन कर जो दृश्य देखेंगे तो आप द्रष्टा हो जायेंगे। द्रष्टा मायने सत्य (दृश्य) को देख लेना। देख लेने का अर्थ है, उस से पार चले जाना।

मनोवैज्ञानिक रूप से देखना मायने अपने से बाहर आना। देखना मायने जो दृश्य है उसकी गति में गतिशील होना और उस पूरी प्रक्रिया के प्रति सजग हो जाना। हमारे रंगमंच में जिस अभिनय की कल्पना है, उसका आधार यही देखना और दिखाना है। दुष्यन्त की भूमिका करने वाला अभिनेता ऐसा कभी आभास नहीं देता कि वह स्वयं दुष्यन्त है। वह सदा हर क्षण यही प्रतीति देगा कि वह अभिनेता है और दुष्यन्त का

यन्त हो जाने का भ्रम पैदा
है, तो दर्शक संशय और
गह सोचेगा, वह कभी देख
त्म हो जायेगा। सोचना
काम है। इसीलिए हमारे
आँसुओं में पहले इसी का पूरा
मन को हमारे यहाँ मल
कि जो निर्मल नहीं है वह

मान की संज्ञा दी गयी है।
कर लिया गया है। 'मन
हावरा है। संस्कृत नाट्य
जो इतना पूर्वरंग, पूजा
कर उस से परे जाने की
जाता।

में नहीं है। विचार की
तोड़ने के लिए हमारे
हमारे विचारों का प्रवाह
हारा लेते हैं, लेकिन जो
कोने के लिए कोई सुन्दर
प्रयत्न करते हैं।

और क्यों देखें, उस
कठिन है तो देखें क्यों ?

यहाँ यह प्रश्न हो नहीं
देखना है इस सन्दर्भ
देखते हैं, पदार्थ को
से हमारी देखने वाली
देखने वाला (दर्शक)
लिए उसका कर्ता रूप
प्राप्त यह है कि देखने
; मूर्छा (पूर्व संस्कार)।

हर दृश्य के दो रूप होते हैं, बाहरी और भीतरी। देखना सम्पूर्ण वृक्ष
में लगे किसी फल को देखना है, इस सजगता के साथ कि फल में छिलका
होता है क्योंकि इसके भीतर रस है। जहाँ रस होता है वहाँ छिलका होता
ही है। हम छिलके को देखें और रस को भी देखें, यही है प्रेक्षक होना।
यही है भारतीय अभिनय।

भारतीय अभिनेता जो किसी पात्र की भूमिका कर रहा है वह उस
पात्र के भीतर उसके चरित्र को देख रहा है। इस तरह भारतीय नाट्य में
एक सार्थक यात्रा की ओर संकेत है, अर्थात् 'जो है' (पात्र) से 'जो होना
चाहिए' (चरित्र) तक की यात्रा को पुरुषार्थ माना गया है। तभी हमारी
दृष्टि आदर्शवादी है। दूसरी ओर 'जो है' (चरित्र) उसी के भीतर उसके
'में' को ढूँढना और तलाशना, यही है पश्चिम का ड्रामा और थिएटर।
'है' यह प्रकृतिवादी दर्शन ढूँढता है, हर समय कर्मरत रहता है। बोलता
रहता है, वर्णन करता रहता है, यथार्थ स्थितियों का निरूपण करता
रहता है कि 'क्या है?' हमारे यहाँ का नाट्य 'है' से 'होना' के सत्य को
लेकर खड़ा है। ठीक जैसी हमारी जीवन दृष्टि है। जहाँ 'होने' की बात
आती है, वहीं मूल्यों की बात आती है। आचार शास्त्र की अनिवार्यता
मानी जाती है। 'होने' की बात के साथ 'मुझे क्या होना है', यह भी जुड़
जाता है।

हमारे यहाँ 'चेतना' और 'संज्ञा' इन दो बिन्दुओं पर प्रेक्षा के प्रसंग में
जैन आगमों में बहुत विचार किया गया है। दस संज्ञाएँ मानी गयी हैं—
आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा,
भ्रम संज्ञा, लोभ संज्ञा, लोक संज्ञा और मोघ संज्ञा। चेतना वहीं सम्भव है
जहाँ कोई संज्ञा नहीं है।

दर्शन में चेतना को संज्ञातीत कहा गया है। संज्ञातीत चेतना का अर्थ
विशुद्ध चेतना, केवल चेतना। अर्थात् देखना। जहाँ चेतना के साथ संज्ञा
का मिश्रण होता है अर्थात् जो चेतना संज्ञा से प्रभावित होती है, वह
चेतना संवेदनात्मक होती है। इससे देखना 'देखना' नहीं होता बल्कि
देखना संज्ञा से रंगा हुआ होता है। संज्ञाएँ कुछ ऐसी होती हैं जैसे साफ
पानी में कुछ कीचड़ मिल गया हो। चेतना शुद्ध है, उसमें यदि कोई संज्ञा
जुड़ गयी तो वह गन्दला हो गया। इसी लिए हमारे संस्कृत नाट्य में मंच
पर भोजन करना, मैथुन, भय, हत्या आदि संज्ञाएँ वर्जित हैं।

गन्दे पानी को साफ किया जा सकता है, उसके अनेक विधि-विधान हैं।

मलिन चित्त, गन्दली चेतना को फिर से शुद्ध किया जा सकता है क्योंकि उसकी निर्मलता को मिटाया नहीं जा सकता। संस्कार बश या कार्य-कारण बश जो कुछ उसमें आ मिला है, उसमें घुल गया है, जो फिर निकाला जा सकता है, उसे पुनः शुद्ध किया जा सकता है, हमारा भारतीय नाट्य, संगीत और नृत्य, हमारी स्थापत्य कलाएँ यहाँ तक कि हमारे लौकिक कर्मकाण्ड, इसी उद्देश्य के प्रति लक्ष्यनिष्ठ हैं।

व्यावहारिक जगत में हम जा कुछ भी देखते हैं वह स्थूल रूप को ही देखते हैं। इस देखने में जो हमारी स्थूल दृष्टि होती है, वह इस बात को झुलवा देती है कि जो कुछ जितना दिख रहा है वह उतना ही नहीं है, उसके भीतर भी बहुत कुछ है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना, स्थूल से सूक्ष्म को देखना, यही है भारतीय नाट्य। संस्कृत नाट्य अथवा भारतीय कलाओं में जो इतना पिष्टपेषण है, इतनी पुनरावृत्तियाँ हैं, इतना विस्तार है, उसका रहस्य यही है कि आप देखते चलो, देखते चलो, देखते चलो, देखते रहें। एक क्षण ऐसा आयेगा कि आप गहराई में उतर जायेंगे। इस अवतरण में इतने नये-नये पर्याय उस वस्तु के सामने आयेंगे कि आप आश्चर्यचकित रह जायेंगे।

हमारे यहाँ क्यों उन्हीं पुरानो कथाओं, पौराणिक पात्रों, लोककथाओं को नाटकों, महाकाव्यों की कथावस्तु बनाया जाता है। इसके पीछे मूल कारण यही है कि कथा, पात्र, चरित्र, राग, रागिनी, मुद्राएँ, मूर्तियाँ आदि के एक बार के दर्शन से वे अनन्त पर्याय हमारे सामने प्रगट नहीं हो सकते। उन्हें बार-बार देखना, सुनना दरअसल उनकी गहराई और सूक्ष्मता में जाने का निमन्त्रण है। जैसे-जैसे कोई दर्शक इन्हें देखता चला जायेगा, वे अनन्त पर्याय एक-एक कर उद्घाटित होते चले जायेंगे। जिस वस्तु को हम इतनी बार देखते और सुनते चले आ रहे हैं, वह किसी दिन हमारे लिए स्वभावतः कुछ और हो जायेगी, अर्थात् वह सत्य के उद्घाटन का माध्यम बन जायेगी। इस अर्थ में देखना केवल देखना ही नहीं है। उसका एक परिणाम भी है।

दूसरा प्रश्न है कि हम कैसे देखें? यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका सीधा उत्तर होगा कि आँखों से देखें। और देखना केवल आँखों से देखना नहीं है, आँखों से देखने से पहले, देखने की जो कुछ अनिवार्य शर्तें हैं उन्हें समझना होगा। पहली शर्त है, दृश्य को अनासक्त भाव से, राग-द्वेष रहित चेतना से देखें। दूसरी शर्त है, मन से न देखें बल्कि मनरहित दृष्टि से देखें। क्योंकि यदि आसक्ति है तो ठीक दिखाई नहीं देगा। अगर मन है तो

आँख देखेगी पर यथार्थ वह पूरा क्यों नहीं दिखेगा? आसक्ति जुड़ी होती है, वह है जिसकी चर्चा हमने उतरता नहीं तब तक इसका अर्थ है मनविहीन तन्त्र और हठयोग में इसे एक विन्दु को अपलक दृष्टि तीसरा प्रश्न है कि मूल स्वभाव है। सोचना मात्र है। विचारना उसका काम है। जब चेतना केवल दर्शन होता है, वि

देखना हमारा स्वभाव प्रांगिक अभिनय पर, इसी लिए कि वह परम हमारा शरीर शक्तियों कला की दृष्टि से शरीर कोई दूसरा पदार्थ नहीं सौन्दर्य की, ईश्वर का सकता है, तो यह शरीर

प्रांगिक अभिनय विश्वास पर खड़ी है कि अलग चैतन्य केन्द्र हैं शक्तियों का अवतरण मुद्राओं, वर्ण, अंगहार का ही अर्थ है। शरीर योग, मूलबन्ध। शरीर (अभिनय) की जो केन्द्र को भारतीय 'नट' द्वारा वह बड़ी से बड़ी शरीर साधना अ

आँख देखेगी पर यथार्थ नहीं दिखेगा। हम आँखों से देखते हैं पर जो है वह पूरा क्यों नहीं दिखाई देना। इसी लिए कि उसके साथ जो हमारी भासकित जुड़ी होती है, वह दिखाई देने लगती है। यही वह पर्दा है, मुखौटा है जिसकी चर्चा हमने पहले की है। जब तक यह आवरण या मुखौटा उतरता नहीं तब तक आँखें यथार्थ को नहीं देख पातीं। हम कैसे देखें इसका अर्थ है मनबिहीन होकर देखें, निरन्तर देखें, अनिमेष देखें। हमारे तन्त्र और हठयोग में इसे वाटक कहा गया गया है। 'वाटक' का अर्थ है— एक बिन्दु को अपलक दृष्टि से देखना, निरन्तर देखना।

तीसरा प्रश्न है कि क्यों देखें? इसका उत्तर है कि देखना चेतना का मूल स्वभाव है। सोचना बुद्धि का काम है। बुद्धि चेतना की एक किरण मात्र है। विचारना उस किरण का एक आलोक है। देखना अखण्ड चेतना का काम है। जब चेतना अनावृत होती है तब केवल देखना होता है, तब केवल दर्शन होता है, चिन्तन नहीं होता।

देखना हमारा स्वभाव है। हमारे नाट्य में, विशेषकर अभिनय पक्ष में प्रांगिक अभिनय पर, अर्थात् हमारे शरीर पर क्यों इतना अधिक बल है? इसी लिए कि वह परम दृश्यवान है। इसके पीछे गहरा कारण यह है कि हमारा शरीर शक्तियों की अभिव्यक्ति का सबसे शक्तिशाली माध्यम है। कला की दृष्टि से शरीर जितना सारभूत है, उतना सारभूत हमारे लिए कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। इतनी सम्पूर्ण मूर्त, वस्तु और कुछ नहीं है। सौन्दर्य की, ईश्वर की, या किसी भी शक्ति की अभिव्यक्ति कोई कर सकता है, तो यह शरीर ही कर सकता है।

प्रांगिक अभिनय का अर्थ है शरीर को साधना। वह साधना जो इस विश्वास पर खड़ी है कि शरीर के अंग-प्रत्यंग और उपांगों में अपने अलग-अलग चैतन्य केन्द्र हैं। इन केन्द्रों से अभिनय द्वारा विशेष प्रभाव और शक्तियों का अवतरण होता है। भारतीय अभिनय इतनी नृत्यवत् गतियों, मुद्राओं, वर्ण, अंगहार और रेचक से भरा है, इसके पीछे शरीर साधना का ही अर्थ है। शरीर साधना के विविध उपाय हैं, आसन, प्राणायाम, योग, मूलबन्ध। शरीर के हर अवयव की जो शक्ति और चैतन्य के अवतरण (अभिनय) की जो क्षमता है, अभिव्यक्ति की जो प्रभावोत्पादकता है, उस केन्द्र को भारतीय 'नट' इतना शक्तिशाली बनाना जानता था कि उसके द्वारा वह बड़ी से बड़ी भूमिकाओं में स्वयं को अवतरित कर सकता था।

शरीर साधना अथवा प्रांगिक अभिनय का अर्थ है सोये हुए शक्ति

केन्द्रों को जगाना, सक्रिय बनाना और उन्हें गतिशील करना। इसके लिए आसन के अलावा दूसरा साधन है श्वास साधना। प्राणायाम से वाचिक अभिनय और सात्विक अभिनय का सीधा सम्बन्ध है। श्वास हमारे ज्ञान केन्द्रों और शक्ति चक्रों से सम्बन्धित है। शरीरशास्त्र में जो ग्रन्थियाँ कहलाती हैं, योग की भाषा में वे चक्र हैं। वाचिक और सात्विक अभिनय से हमारी सटी हुई ग्रन्थियाँ जब जागृत हो जाती हैं और विकसित होकर जब उनकी गाँठें खुलने लगती हैं तो यही आनन्द और रस का आस्वाद बन जाता है। हमारे तन्त्र शास्त्र में सुख, दुःख, ज्ञान, शक्ति का प्रगट होना हमारी ग्रन्थियों, ज्ञान तन्तुओं और शरीर चक्रों पर आधारित है। ये जब तक खुलेंगे नहीं, विकसित नहीं होंगे और उनमें विशिष्ट शक्तियों को भेदने की क्षमता नहीं होगी, तब तक इनसे आनन्द, रस का अवतरण कैसे होगा।

देखने के क्षेत्र में शब्द भी आता है, और मौन भी। संस्कृत रंगमंच में वाचिक और मूक अभिनय का जो इतना महत्त्व है उस पर ध्यान देना होगा।

वाचिक अभिनय से पहले मूक पूर्व-वाचिक अभिनय है, और वाचिक अभिनय के बाद उत्तर वाचिक मूक अभिनय है। इससे पता चलता है कि शब्द, पद, वचन, कथन (शब्द) ये सब स्वर साधना के अन्तर्गत आते हैं। मौन रहना एक बात है और बोलना दूसरी बात है। हमारा सारा वाचिक अभिनय इस तथ्य की ओर सांकेतिक संकेत करता है कि जीवन में बोलने और न बोलने का योग होना चाहिए। जैसे दृश्य और अदृश्य में योग होना चाहिए। जैसे रूप और अरूप में योग होना चाहिए। रूपक जिसमें नाटक एक प्रमुख प्रकार है, इसमें जिस 'रूप' तत्त्व पर संकेत है, वह रूपकता इन्हीं शब्द-अशब्द, दृश्य-सूक्ष्म, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष के योग से ही सम्भव है।

जब हम शब्द का उच्चारण करते हैं तो उसका एक रूप निर्मित करते हैं क्योंकि यह सब कुछ दिखता है। इसलिए वाचिक अभिनय के साथ हमारा आंगिक, सात्विक अर्थात् हमारा भाव, संकल्प और हृदय की शक्ति भी अभिव्यक्त होती है। शरीर, श्वास, वायु, ध्वनि और संकल्प, मानसिक शक्ति इन सबका जब योग होता है, तब कोई शब्द हमारे सामने 'रूप' ग्रहण करता है।

'रूप' निर्माण के साथ एक प्रतिवचनीय प्रकार की विद्युत शक्ति भी निकलती है। हमारे आंगिक, वाचिक अभिनय के साथ, हमारे शरीर के दो मुख्य स्थानों हाथ और पैर, आँख और ध्वनि, इन चार अंगों का

आश्चर्यजनक योग शरीर की विद्युत शक्ति निकल कर शक्ति रंगमंच के विशेष साधक चाहते हैं। हम शब्द अपने भीतर जो ध्वनि बाहर प्रगट करते हैं

हमारा जीवन है। हम जो मानते हैं। केवल प्रकल्प तरंगों, ध्वनि की तरंगों कहें तो हम पर्याप्त आत्मा। वह दिव्य अदृश्य, सूक्ष्म तरंगों तीर्थ रूपक। इसी तीसरा है इन दो

नाटक में जो कदम 'अवतरण' है। सारा भारत से बाहर निकल जा सकता है? में से बीज बाहर करके। विकास निकलना (प्र) इन तीनों स्थानों जाना। रूप नायने जो हर

रूपकत्व में भावा का ग है। भाषा क सम्पर्क होता चंचलता श्री

तिशील करना। इसके लिए
प्रणायाम से वाचिक
बन्ध है। श्वास हमारे ज्ञान
शरीरशास्त्र में जो ग्रन्थियां
वाचक और सात्विक अमिनय
हैं और विकसित होकर
रस का आस्वाद बन
ज्ञान, शक्ति का प्रगट होना
पर आधारित है। ये जब
न में विशिष्ट शक्तियों को
मानन्द, रस का अवतरण

न भी। संस्कृत रंगमंच में
व है उस पर ध्यान देना

अमिनय है, और वाचिक
इससे पता चलता है कि
धना के अन्तर्गत आते हैं।
है। हमारा सारा वाचिक
ता है कि जीवन में बोलने
और अदृश्य में योग होना
हिए। रूपक जिसमें नाटक
पर संकेत है, वह रूपकता
योग से ही सम्भव है।

एक रूप निमित्त करते हैं
अभिनय के साथ हमारा
और हृदय की शक्ति भी
गति और संकल्प, मानसिक
ई शब्द हमारे सामने 'रूप'

कार की विद्युत शक्ति भी
के साथ, हमारे शरीर के
ध्वनि, इन चार अंगों का

आश्चर्यजनक योग है। इसका कारण यह है कि इन अंगों या चक्रों से होकर शरीर की विद्युत बाहर आती है। शब्द की तरंगों, शब्द के प्रकम्पन बाहर निकल कर शक्ति पैदा करते हैं। शब्द वाचक भी है, और वाच्य भी है। रंगमंच के विशेष सन्दर्भ में हम वस्तुतः वाचक के द्वारा वाच्य तक पहुँचना चाहते हैं। हम शब्द की ध्वनि के साथ अंगों, उपांगों के रूप को जोड़ कर अपने भीतर जो छिपा हुआ हमारा सूक्ष्म स्वरूप है, हम उसे रूप दे कर बाहर प्रगट करते हैं।

हमारा जीवन, सारा शरीर तरंगों, प्रकम्पनों, उमियों का एक समूह है। हम जो मान रहे हैं कि शरीर ठोस है पर वस्तुतः ठोस कुछ भी नहीं है। केवल प्रकम्पन है। शरीर की तरंगों, श्वास की तरंगों, विचारों की तरंगों, ध्वनि की तरंगों, हम केवल तरंगों से घिरे हुए हैं। दर्शन की भाषा में कहें तो हम पर्यायों से घिरे हुए हैं। द्रव्य ('मैटर') है कहाँ? द्रव्य है आत्मा। वह दिखाई नहीं देता। द्रव्य है पुद्गल। वह बहुत सूक्ष्म है। इस अदृश्य, सूक्ष्म तरंगों और प्रकम्पनों को हम कोई रूप दे सकें; यह है भारतीय रूपक। इसी रूपक का एक प्रमुख अंग है नाटक। दूसरा है मूर्ति और तीसरा है इन दोनों का एकात्म बिन्दु; अवतार कल्पना।

नाटक में जो इतना रूपकत्व पर बल है, पात्र के अभिनय में जो इस कदर 'अवतरण' का इतना महत्त्व है, उसके पीछे अवतार का ही संकेत है। सारा भारतीय चेतन्य इसी एक और इशारा करता है कि अपने आप से बाहर निकलो। व्यावहारिक रूप से अपने आप से बाहर कैसे निकला जा सकता है? एक ही न्याय है, आत्मविकास। उदाहरण के लिए बीज में से बीज बाहर कैसे निकलता है। जाहिर है पौधों के रूप में विकास करके। विकास के साथ गति का गहरा योग है। अपने आप से बाहर निकलना (अवतरण) आत्मविकास करना, हर क्षण गतिमान रहना। इन तीनों स्थितियों की एकात्म स्थिति का नाम है; रूप में परिणत हो जाना। रूप मायने जो दृश्य है, रूप मायने जो अदृश्य भी है। रूप मायने जो हर क्षण विकसित और गतिमान है।

रूपकत्व में मौन का अत्यधिक महत्त्व है। रूप तभी प्रगट होगा जब भाषा का व्यापार कम होगा। ऐसा हमारे पुरखों ने तरह-तरह से कहा है। भाषा का, शब्द का पहला काम है चंचलता उत्पन्न करना। जब सम्पर्क होता है तभी चंचलता अर्थात् शब्द पैदा होते हैं। बोलने से पहले चंचलता और बोलने के बाद चंचलता। बोलने का अर्थ है पहले अपने

आप को चंचल करो (सोचो) फिर बोलो। इस रहस्य से भारतीय अभिनेता पूरी तरह परिचित था। वाचिक अभिनय से पूर्व का अभिनय और बाद का अभिनय उसी चंचलता को रूप देने का सार्थक प्रयत्न है।

मौन का एक और भी संकेत है अनिर्वचनीयता। मतलब है कि रूप को, दृश्य को, देखो; उसकी अनिर्वचनीयता में उतरो; बोलो नहीं। मौन रहना अर्थात् मूक अभिनय सत्य और सौन्दर्य की सुरक्षा का सशक्त और प्रबल साधन है। मनुष्य का वास्तविक रूप अर्थात् स्वरूप मौन है। मौन ही रूप है। उत्तररामचरित की सीता, सारनाथ के बुद्ध, अजन्ता के पद्मपाणि उसी सत्य के मौन रूप हैं। इसी रूप को देखना ही देखना है।

देखना बिना ज्ञान के सम्भव नहीं है। देखना मायने जगना। जगना मायने देखना। देखना मायने जानना। देखना और जानना दोनों समानान्तर हैं। बिना जाने हम देख नहीं सकते, बिना देखे हम जान नहीं सकते। नाटक 'देखने' का सबसे बड़ा 'जानना' यह है कि बिना जाने हम 'रूप' से 'रूपान्तरित' नहीं हो सकते। रूप से रूपान्तरित होना, अपने आप से बाहर निकलना, यही है रूपान्तरित होना। देखने और जानने के अलावा हमारे पास कोई दूसरा उपाय नहीं है कि हम बदल जायें, रूपान्तरित हो जायें।

नाटक में प्रस्तुतीकरण या प्रदर्शन का पक्ष अभिन्न है। प्रदर्शन के मायने हैं किसी पदार्थ का बार-बार दर्शन। हम एक पदार्थ को जितनी बार देखेंगे, उतना ही उसके बारे में अधिक जानेंगे। 'जानना' कोई जड़ तथ्य नहीं है कि एक बार जान लिया, बस जान लिया। जानना एक सतत जीवन्त प्रक्रिया है जिसका अभ्यास करते रहना आवश्यक है।

आजकल लोग कहते हैं कि क्या उसी चीज को बार-बार देखना? देखने को दोहराना मानते हैं। दोहराना ही उनकी सबसे बड़ी ऊब है। पर वे लोग यह नहीं जानते कि हम स्वयं को दोहराते जा रहे हैं। हम स्वयं को देखने वाले भी हैं और हम स्वयं को देखने से भाग भी रहे हैं। हमारे रंगमंच, मूर्ति उपासना, स्थापत्य कला, संगीत, नृत्य में जो इतना दोहराया जाना है, उसका यही सार्थक संकेत है कि आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। जब हम इस तरह देखना शुरू करते हैं, तब हमारे रूपान्तरण की प्रक्रिया शुरू होती है। अर्थात् हमारे दृष्टिकोण का परिवर्तन होता है। हम देख लेते हैं कि अपनी आँखों से नहीं देखते, बल्कि मन से देखते हैं। कानों से

नहीं सुनते, बल्कि होता है, हम अपने

रूपक से जितने

हाथ में आया कि

हम जो कुछ भी

इसे काट कर ज

आगे बढ़ती है।

यह महत्त्वपूर्ण ज

करने दें, मन

देखें। इन्हें हम प

हम देख कर

सबको अनजाने

असंयम है। घर

पूरे अस्तित्व प

धारणा, ये सब

की लहरों में हम

जाता है। इसी

शुभारम्भ कर प

आता है, वह अ

यह है कि वह न

हमारे स्थूल

उतना ही शक्ति

वही शक्तिशाली

मतलब है बहुत

महत्त्वपूर्ण नहीं

दृश्य से अदृश्य

किन्तु आज

रहा है। उसके

हमारी चुनौती

नाटक लिखना

जलाना है। यह

हैं। इम रंगकर्म

भी रहेगा, एक

रहस्य से भारतीय अभि-
से पूर्व का अभिनय और
साथक प्रयत्न है।

मतलब है कि रूप को,
बोली नहीं। मौन रहना
का सशक्त और प्रबल
रूप मौन है। मौन ही रूप
अज्ञानता के पद्मपाणि
देखना है।

मायने जगना। जगना
और जानना दोनों समा-
बना दे खे हम जान नहीं
है कि बिना जाने हम
रूपान्तरित होना, अपने
। देखने और जानने
कि हम बचल जायें,

अभिन्न है। प्रदर्शन के
पदार्थ को जितनी बार
जानना' कोई जड़ तथ्य
। जानना एक सतत
अवश्यक है।

को बार-बार देखना ?
बबसे बड़ी ऊब है। पर
रहे हैं। हम स्वयं को
रहे हैं। हमारे रंग-
जो इतना दोहराया
परा आत्मा को देखो।
रूपान्तरण की प्रक्रिया
होता है। हम देख
देखते हैं। कानों से

नहीं सुनते, बल्कि मन से सुनते हैं। हमारा जानना बाहर से उधार लिया
होता है, हम अपने भीतर से कुछ नहीं जानते।

रूपक से जिस रूपान्तरण का हमने सम्बन्ध जोड़ा, उसमें से यही रहस्य
हाथ में आया कि मन से नहीं, आँखों से देखो। मतलब, सोचो नहीं देखो।
हम जो कुछ भी करते हैं, वह सब कुछ पूर्व धारणाओं-पूर्वाग्रहों से करते हैं।
इसे काट कर जब हम किसी रूप को देखते हैं तो रूपान्तरण की प्रक्रिया
आगे बढ़ती है। रूपक और रूपान्तरण, नाटक और नाट्य प्रदर्शन से हम
यह महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त करते हैं कि हम इन्द्रियों को अपना काम
करने दें, मन को भी अपना काम करने दें, हम इन्हें अलग-अलग
देखें। इन्हें हम परस्पर जोड़ें नहीं, मिलायें नहीं।

हम देख कर जान नहीं पाते और जान कर देख नहीं पाते। क्योंकि
सबको अनजाने हम मिलाते चल रहे हैं। मिलाना या मिश्रण करना यही
असंयम है। असंयम की भी एक आदत बन जाती है। वही आदत हमारे
पूरे अस्तित्व पर संस्कार बन कर छा जाती है। आँख, कान, मन, संस्कार,
धारणा, ये सब एक में मिल कर एक धारा बन जाते हैं और इस धारा
की लहरों में हम बहने लगते हैं। हमारा देखना और जानना असम्भव हो
जाता है। इसी लिए हम न रूप देख पाते हैं, न रूपान्तरण की प्रक्रिया का
शुभारम्भ कर पाते हैं। जबकि हर आदमी बदलना चाहता है। जिसे क्रोध
आता है, वह अपने स्वभाव को बदलना चाहता है पर बुनियादी समस्या
यह है कि वह न अपने स्वभाव को देखना चाहता है और न जानना।

हमारे स्थूल जगत का विश्वास यह है कि जो जितना स्थूल है, वह
उतना ही शक्तिशाली है। पर असली बात यह है कि जो सूक्ष्म होता है
वही शक्तिशाली होता है। नाटक और रंगमंच के प्रसंग में स्थूल होने का
मतलब है बहुत बड़े आयतन को घेर लेना। घेर लेना कला की दृष्टि से
महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण बात है अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना।
दृश्य से अदृश्य की ओर जाना, बाहर से भीतर जाना।

किन्तु आज की दुनिया और आज के मनुष्य का विश्वास उठता जा
रहा है। उसके पास ज्ञान प्राप्त करने के लिए समय नहीं है। तभी आज
हमारी चुनौती बहुत बड़ी है। वर्तमान सन्दर्भ में, वर्तमान दर्शक के लिए
नाटक लिखना, खेलना यह सारा प्रयत्न किसी अंधेरी कोठरी में एक दिया
जलाना है। यह दिया जलाने का प्रयत्न हम खूब समझ-बूझ कर कर रहे
हैं। इस रंगकर्म के पीछे जैसा कि पहले से था और आज भी है, और आगे
भी रहेगा, एक निश्चित प्रयोजन है। हमें यह ज्ञात है कि हम यह प्रयत्न

क्यों कर रहे हैं। श्वास, शब्द ध्वनि, गति इन सबके सहारे हम गतिमान हैं। पर हम गति को देख नहीं पा रहे हैं, इसलिए जान भी नहीं पा रहे हैं। जैसे समय के तेज प्रवाह में समूल उखड़ा हुआ कोई वृक्ष धारा में विवश बह रहा हो। हम इस सत्य दृश्य को देखें, पर आश्चर्य और दुःख की बात यह है कि आज का भारतीय, विशेषकर हिन्दू इसे देखना नहीं चाहता, इसे केवल एक बात समझ कर अपनी मूर्छा में मस्त बह रहा है। इस बात को पश्चिम अपने जीवन और अपने थिएटर दोनों स्तरों पर पकड़ रहा है। सम्भवतः यह ईसाइयत की एक बड़ी विशेषता है कि वह अनादिकाल से अब तक अपने 'पतन' को देख और जान रहा है। इसकी तुलना में हिन्दुत्व जो देखने के ही दर्शन पर खड़ा है, वह देखने से इस कदर भयभीत होकर न जाने किस भ्रम और अन्धविश्वास के गर्त में जा छिपा है।

हमारा आने वाला नाटक और रंगमंच उसी अन्ध गह्वर में जाकर उसे फिर से देखने और जानने के साथ जोड़ेगा। इसके पीछे हमारा बहुत गहरा प्रयोजन है कि हम अपने नाटक, रंगमंच के श्वास, शब्द और ध्वनि के सहारे उस अन्धकार में चलें, जहाँ हम सब, विशेषकर हिन्दू लोग, जा छिपे हैं। जान बूझ कर, जीवन संघर्षों से उब कर भागे हुए हम लोग, देखने की आदत से ही कट गये हैं। हम फिर से अपने रंगमंच द्वारा यह आदत डालें कि जीने का अर्थ है देखना। मरने का लक्षण है आँख मूँद लेना। देखने से हम जानने लगेंगे कि हम किस तरह समूल उखड़े हुए वृक्ष की तरह, पश्चिम (आधुनिकता) के प्रवाह में (नकल में) जड़बत् बह रहे हैं।

आज का सामान्य भारतीय, विशेषकर 'हिन्दू' अपनी जातीय कथा, परम्परा और रूपकत्व ने बुरी तरह कट कर केवल प्रदर्शन (दिखावा) पर आ गया है। रूप से प्रदर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं है। पर आज का भारतीय रंगमंच, भारतीय फिल्म की तरह केवल प्रदर्शन कर रहा है। यह प्रदर्शन मूलतः 'मैं' के प्रदर्शन से शुरू होकर तन-बदन-नकल, थोथापन, शरीर प्रदर्शन, ताम-झाम, काम-क्रोध के दिखावे तक फैला हुआ है। यह विकृत हिन्दू मानस, अपनी परम्परा की बात आदतन करता रहता है। बात करके उससे छुट्टी लेकर यह सोया पड़ा है, और रूप से रूपान्तरण की बात करके अपने झूठे और खोखले अहंकार को दिखाना चाहता है। यह अपनी उस संस्कृति से बिल्कुल कट गया है, जिसकी प्रतीक है रूपकार की कला।

अपनी रूपकार कला—परम्परा से इस तरह उच्छिन्न हो जाने की

सच्चाई को देखें। ईसा संस्कृति एक परिवर्तन पतन, नाना विदेशी धार्मिक सम्बन्ध उस आन्तरिक पक्ष का एक ईसवी प्रथम शताब्दी मुद्गाओं में जानपदिक इसी युग से प्रारम्भ हुआ की मानो एक नयी प्र एवं प्रमाण नियत शैल पर (अभिधा) लक्ष निश्चित होने लगी। राजा, अमात्य, श्रेष्ठी पुहषार्थ, अर्थ और क

इसी चित्त भूमि हुए। 'यह रूप की के दृश्य रूप, स्त्रियों छन्दों के रूप, सभी इ होकर रूपकार हो।' न्द्रियता में सामरस्य के बुद्ध, अजन्ता के उत्कृष्ट रूप में दिला

यहीं से हमारे रूप की महिमा, वि आन्तरिक गुण में सिद्धान्त का विकास हुआ है, वह कालिदा और नाट्य की यह और वे मानो आँखों तरह-तरह से यह ही दुःख का कारण अभिज्ञान शाकुन्तल की यही दृष्टि रही

सहारे हम गतिमान
भी नहीं पा रहे हैं।
वृक्ष घारा में विवश
और दुःख की बात
ना नहीं चाहता, इसे
है। इस बात को
पर पकड़ रहा है।
वह अनादिकाल से
तुलना में हिन्दुत्व
भयभीत होकर
है।

गह्वर में जाकर
सके पीछे हमारा
श्वास, शब्द और
शेषकर हिन्दू लोग,
गये हुए हम लोग,
रंगमंच द्वारा यह
क्षण है आँख मूँद
न उखड़े हुए वृक्ष
में) जड़वत् वह

जातीय कथा,
दर्शन (दिखावा)
पर आज का
न कर रहा है।
नकल, योथापन,
सा हुआ है। यह
रता रहता है।
प से रूपान्तरण
गना चाहता है।
तीक है रूपकार

ही जाने की

सषवाई को देखें। ईसा पूर्व की अन्तिम चार शताब्दियों में समूची भारतीय संस्कृति एक परिवर्तन से गुजरी। एक विशाल साम्राज्य का निर्माण और पतन, नाना विदेशी आक्रमण और विदेशों से सैनिक, व्यापारिक एवं धार्मिक सम्बन्ध उस परिवर्तन का बाह्य पक्ष प्रस्तुत करते हैं। उसके आन्तरिक पक्ष का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है रूपकार की कला का अपूर्व विकास। ईसवी प्रथम शताब्दी तक बुद्ध की प्रतिमा का अविष्कार हो चुका था। मुद्राओं में जानपदिक लक्षणों के स्थान पर शासकों के चित्र का प्रचलन इसी युग से प्रारम्भ हुआ। उत्कीर्ण रूपों की इस परम्परा ने अभिव्यक्ति की मानो एक नयी प्रत्यक्ष परायण ('विजुअल') और लक्षण परिभाषित एवं प्रमाण नियत शैली को जन्म दिया। भाषा क्रमशः व्यवहार के स्थान पर (अभिधा) लक्षणों से परिभाषित होने लगी और 'रूपावलियाँ' निश्चित होने लगीं। वेद उपनिषद युग के लोकोत्तर देव चरित्र का स्थान राजा, अमात्य, श्रेष्ठी और नागरिकों ने ले लिया। धर्म और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ, अर्थ और काम के समक्ष गौण से हो गये।

इसी चित्त भूमि से रूपों के आविष्कार और मूर्त प्रतिबिम्बन शुरू हुए। "यह रूप की खोज समस्त अनुभव सागर का मन्थ करती है। प्रकृति के दृश्य रूप, स्त्रियों के रूप, मानवीकृत देवताओं के रूप, शब्दों और छन्दों के रूप, सभी इस मन्थन में लिच आते हैं। कवि मानो शब्दकार न होकर रूपकार हो।"² परिणामतः रूप की व्यञ्जक ऐन्द्रियता और अतीन्द्रियता में सामरस्य हो, यही इस युग की कला का आदर्श था। सारनाथ के बुद्ध, अजन्ता के पद्मपाणि, अश्वघोष एवं कालिदास में यह समन्वय उत्कृष्ट रूप में दिखाई देता है।

यहीं से हमारे रूपक और नाट्य की परम्परा का श्री गणेश है। इसमें रूप की महिमा, विषयासक्ति का प्रदर्शन नहीं है। वह बाह्य रूप और आन्तरिक गुण में मौलिक संगति के विश्वास पर खड़ा है। रस, ध्वनि के सिद्धान्त का विकास जिस प्रेक्षा और प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पृष्ठभूमि में हुआ है, वह कालिदास की रचनाओं में पूरी तरह से प्रतिपादित है। रूपक और नाट्य की यह परम्परा है जिसके शब्द रूप हैं, और रूप शब्द हैं और वे मानो आँखों में सिद्धांजन लगा देते हैं। इस रूपक और नाट्य में तरह-तरह से यह संकेत है कि विषयासक्ति व्यक्तिगत जीवन और प्रेम में ही दुःख का कारण नहीं है। वह राष्ट्रीय जीवन में भी पतन का कारण है। अभिज्ञान शाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् और कुमारसम्भवम् में भी कालिदास की यही दृष्टि रही है कि तपस्या के द्वारा विशुद्ध हुए बिना शक्ति वस्तुतः

आत्मशक्ति, न्यायिक राज्य शक्ति नहीं बन सकती, न वे शब्द राष्ट्र के या दिव्य शक्तियों के नेता को जन्म दे सकते हैं।

जिस दिन से हम अपनी इस दृष्टि से पतित हुए, या कट गये, तभी से हम अपनी परम्परा या भारतीयता से उच्छिन्न हुए। हमारी यह उच्छिन्नता कम समय की नहीं, हजार वर्षों की है। इस देश में उच्छिन्नता को और गहरा अन्धकारपूर्ण बनाया अंग्रेजी शासन ने। भारत कोई देश नहीं रह गया बल्कि पश्चिम का एक उपनिवेश मात्र हो गया है। औपनिवेशिक संस्कृति की सबसे बड़ी पहचान यही है कि उसकी अपनी कोई अस्मिता शेष नहीं रह जाती। वह आजाद होकर भी कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। वह सदा अपनी अस्मिता, अपनी परम्परा को पाने का ढोंग कर सकता है, पर उसे प्राप्त करके जी नहीं सकता। वह सदा उस देश की नकल करता रहेगा, उस देश की संस्कृति के अधीन रहेगा, जिसका वह उपनिवेश रहा है। उपनिवेश बनाने वाला देश ही उसका आदर्श हो जाता है। भारत अब भी पश्चिम का उपनिवेश है। भारत में भारतीयता नहीं है, अपने प्रति आत्म सम्मान नहीं है। यह अपनी परम्परा से, अपने प्राचीन से भयंकर रूप से कट गया है।

'करना' मनुष्य जीवन का क्षेत्र है। इसी क्षेत्र को हम कर्मक्षेत्र भी कहते हैं। पर ध्यान देने की बात यह है कि जब भी हम कुछ करते हैं उसमें करना और रचना अभिन्न रूप से प्रगट होता रहता है जैसे जल में वायु, वायु में जल। किन्तु जो रचना का क्षेत्र है उसमें किसी निश्चित वस्तु, फल के निर्माण का भाव है। 'करने' में यह कोई आवश्यक नहीं है कि उसमें कोई निश्चित फल का बोध हो। 'करना' सामान्यतः सम्बन्धों की दुनिया का स्वभाव है। करना का सम्बन्ध अर्थ से है, रचना का सम्बन्ध धर्म से है।

अगर एक चरित्र मंच पर प्रवेश करता है तो मंच पर उपस्थित लोगों को सम्बन्ध अनुसार कुछ करना ही पड़ता है। इसी में से यथार्थवाद, प्रकृतिवाद का विकास होता है। पर जब हम रचना क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तो सबसे पहले हम चुनाव करते हैं, वस्तु का, माध्यम का, शैली का और इन सबको हम तदनुसार किसी विशेष फल से जोड़ते हैं। जब हम चुनाव करते हैं तो अपने ऊपर एक मर्यादा लगाते हैं। तथा उसे किसी परम्परा, शक्ति से भी जोड़ते हैं। स्पष्ट शब्दों में जो कुछ हम किसी बाहरी शक्ति,

देखना

दबाव

संकल्प

अप

स्वधर्म

करना

करने

उसी क

करेगा

और ज

जब

जिन्हें

भाव न

अभाव

लिए

कारण

तक हम

विवशत

क्योंकि

भाव, स

'शि

महाकत

नवाव

माना, क

विहार,

सामाजि

आत्मब

दूसरों के

विवशत

धर्म हैं।

भूमिका

नीच-अंच

जाता।

रंग की

कती, न के शब्द राष्ट्र के या
 हुए, या कट गये, तभी से
 चिह्न हुए । हमारी यह
 है । इस देश में उच्छिन्नता
 सनने । भारत कोई देश
 मात्र हो गया है । औपनिवे-
 है कि उसकी अपनी कोई
 कर भी कभी स्वतन्त्र नहीं
 परम्परा को पाने का ढोंक
 कता । वह सदा उस देश की
 अधीन रहेगा, जिसका वह
 देश ही उसका आदर्श हो
 है । भारत में भारतीयता
 है अपनी परम्परा से, अपने

को हम कर्मक्षेत्र भी कहते
 हम कुछ करते हैं उसमें
 रहता है जैसे जल में वायु,
 उसमें किसी निश्चित वस्तु,
 आवश्यक नहीं है कि उसमें
 सामान्यतः सम्बन्धों की
 है, रचना का सम्बन्ध

रंगमंच पर उपस्थित लोगों
 है । इसी में से यथार्थवाद,
 रचना क्षेत्र में प्रवेश करते हैं
 माध्यम का शैली का और
 जोड़ते हैं । जब हम चुनाव
 तथा उसे किसी परम्परा,
 हम किसी बाहरी शक्ति,

दबाव, विवशता से करते हैं वह करना (एक्टिंग) है । पर जो हम अपने
 संकल्प विवेक से, चैतन्य से करते हैं वह 'रचना' (अभिनय) है ।

अगर हमें यह पता हो जाय कि 'मैं कौन', तो हम अपने स्वभाव और
 स्वधर्म के भीतर, अपने सारे कर्मों के माध्यम से रहना और जीना, अर्थात्
 करना और रचना दोनों एक साथ करें। ठीक जैसे किसी एक्टर ('एक्ट'—
 करने वाला) को यह पता चल जाय कि उसे क्या भूमिका करनी है तो वह
 उसी की मर्यादा, धर्म भाव के ही भीतर रह कर अपने चरित्र की रचना
 करेगा । भूमिका में रह कर भी वह अपने आय का दर्शक भी होगा । देखना
 और जानना, जानना और देखना दोनों का रहस्य यही है ।

जब तक हम यह जानते नहीं कि 'मैं क्या हूँ' तब तक वे सारी भूमिकाएँ
 जिन्हें हम अ-य लोगों के सम्बन्धों में अदा करेंगे उनमें स्वभावतः रचना का
 भाव नहीं होगा केवल करने का भाव होगा । क्यों कि उनमें आत्म ज्ञान का
 अभाव है । आत्मज्ञान के बिना रचना सम्भव कैसे हो ? उसमें तब हमारे
 लिए केवल विवशता ही विवशता रहेगी, हमारा विवेक और संकल्प वहाँ
 कारगर नहीं होगा । जब तक हमें अपनी अस्मिता का बोध नहीं है, तब
 तक हम अपनी तमाम भूमिकाओं, व्यवहारों, आचरणों, सम्बन्धों से केवल
 विवशतावश जुड़ेंगे । फलतः उनके प्रति हम कोई जिम्मेदारी नहीं लेंगे ।
 क्योंकि तब हम कर्ता नहीं हैं । स्वतन्त्र इसलिए नहीं हैं कि हम अपने स्व-
 भाव, स्वधर्म को नहीं जानते ।

'शिव' को हमने नटराज के रूप में देखा, 'कृष्ण' को नटवर कहा क्योंकि
 महाकर्ता महाद्रष्टा भाव से उन्होंने नटन किया । किन्तु अवध के आखिरी
 नवाब वाजिदअलीशाह को, जो श्रेष्ठ नर्तक थे, उन्हें हमने कायर, स्त्रैण
 माना, क्यों ? इसलिए कि वाजिदअलीशाह का सारा प्रसंग अपनी वासना,
 बिहार, आमोद-प्रमोद था । उसके पीछे न कोई आत्मज्ञान था, न कोई
 सामाजिक दृष्टि । अपने आप को देख लेना, जान लेना वास्तव में यही है
 आत्मबलिदान या आत्मविसर्जन । अपने आप से बाहर आकर कर्म करना,
 दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों को जीना (करना) अर्थात् रचना । यह किसी
 विवशता का परिणाम नहीं है बल्कि यह 'मेरी भूमिका' का स्वभाव और
 धर्म है । यहाँ सारी जिम्मेदारी 'मेरे ऊपर' है क्योंकि यह मेरा वर्ण है । इस
 भूमिका में (किसी की भूमिका में) मान-प्रपमान, प्रसन्नता-प्रप्रसन्ता,
 नीच-ऊँच, सफलता-असफलता का किसी में कोई अन्तर शेष नहीं रह
 जाता । जहाँ केवल कर्ता और क्रिया है, भूमिका और अभिनेता हैं, यहाँ
 रंग की सृष्टि होती है, जिस रंग से रंग जाये बिना कोई बच नहीं सकता ।

अन्यथा एक्टर या अभिनेता प्राचीनकाल से अब तक इसीलिए एक निहायत गैरजिम्मेदार, असामाजिक, चरित्रहीन समझा जाता रहा है। जिसमें 'अपना' चरित्र नहीं है वह दूसरों के चरित्र का अभिनय कैसे कर सकता है? चरित्र ही आधार है किसी व्यक्ति या किसी वस्तु का। अपना यही चरित्र देखना और जानना कर्म का मूल रहस्य है। वह कर्म जो श्रम होते हुए भी आनन्द है, जो एक भयंकर अपमान यहाँ तक कि अपराध होते हुए भी जहाँ रचनाकार अपनी रचना का स्वयं तनय हो जाता है।

हमारे समय में तन याने शरीर का अधिक से अधिक एक ही प्रसंग शेष रह गया है। तनना या तनाव। तन में जो मूलतः तनय का अर्थ है यह हम कहीं देख या जान पा रहे हैं। आज जो भूमिका हमें मिलती है उसमें अज्ञान के कारण हममें किस कदर अहंकार आ जाता है। किस कदर हम कुछ करने, होने के स्थान पर केवल प्रदर्शन के लिए मजबूर होते हैं। हम किस तरह अपनी भूमिका के बन्दी और गुलाम हो जाते हैं। हम किस तरह अपनी खुशी, अपनी प्रसन्नता के ही भीतर सीमित हो जाते हैं। किस तरह हम सब कुछ भूल कर केवल परिणाम और फल पर आश्रित हो जाते हैं। जो आश्रित है वह स्वभावतः स्वतन्त्र नहीं है, जो स्वतन्त्र नहीं है वह कर्ता नहीं है।

यह जानना कि 'मैं कौन हूँ' और 'मनुष्य क्या है,' इन दोनों प्रश्नों को जो समान मान कर चलता है वह वस्तुतः अपने आप को धोखा नहीं देता है। 'मैं कौन हूँ' यह आत्मज्ञान की दिशा में एक चुनौती और घोर संघर्ष ही नहीं है, बल्कि इस प्रश्न के उत्तर की तलाश में प्रश्नकर्ता अपने आप को सबसे, पूरी सृष्टि से अद्वैत रूप में सम्बन्धित पाता है, पर जब यह प्रश्न किया जाता है कि 'मनुष्य क्या है,' तब प्रश्नकर्ता अपने आप को सबसे अलग कर लेता है। बल्कि वह इस अहंकार (अज्ञान) के वशीभूत हो जाता है कि 'मनुष्य क्या है' इसे मैं जानूँगा, और जान कर दिखा दूँगा। बिना यह जाने कि 'मैं क्या हूँ' ग्रीक थिएटर (एडीपस रेक्स) और शेक्सपीयर के थिएटर (हेमलेट) का और कलिदास (अभिज्ञान शाकुन्तलम्) के रंगमंच का यही बुनियादी भाव है कि 'मैं कौन हूँ।' ठीक इसके उल्टे आधुनिक रंगमंच और थिएटर का यह बुनियादी प्रश्न है कि 'मनुष्य क्या है?'

यज्ञ की तरह हमारा नाट्य पुराण की पुनर्रचना है। यज्ञ में जिस आत्मबलि का बोध है, वही बोध प्राचीन रंगमंच और थिएटर का है, चाहे वह पूरब का हो, चाहे पश्चिम का।

जितना दृश्यगत है, उतना ही सत्य है, जितना हमने जाना, उतना ही ज्ञान है, यह आधुनिक युग का अहंकार है। इस अहंकार का उत्तरोत्तर

विकास जो आ के कारण है। देख सकते हैं, ह भी अनैतिक, समाज, मर्यादा खत्म कर दि दे दी गयी है।

रंगमंच की देख और जा परम्परा से जो दोनों में भूमिका देख रहा है जिस भूमिका भूमिका, ऊँची अनुसार वह दे उसे दूसरे धरा अज्ञान है। दे की सीमा और रहे हैं। तभी जोड़ी, केवल

क इसीलिए एक निहा-
जाता रहा है। जिसमें
मनय कैसे कर सकता
स्तु का। अरना यही
वह कर्म जो अम होते
कि अपराध होते हुए
जाता है।

धक एक ही प्रसंग शेष
मय का अर्थ है यह हम
मलती है उसमें अज्ञान
। किस कदर हम कुछ
र होते हैं। हम किस
ने हैं। हम किस तरह
जाते हैं। किस तरह
आश्रित हो जाते हैं।
अन्त नहीं है वह कर्ता

इन दोनों प्रश्नों को जो
धोखा नहीं देता है।
और धोर संघर्ष ही
नकर्ता अपने आप को
पर जब यह प्रश्न
अपने आप को सबसे
के वशीभूत हो जाता
देखा दूंगा। बिना यह
) और शेषसपीयर के
(कुन्तलम्) के रंगमंच
इसके उल्टे आधुनिक
नुप्य क्या है?’

। यज्ञ में जिस आत्म-
एटर का है, चाहे वह

मने जाना, उतना ही
हंकार का उत्तरोत्तर

विकास जो अब विकृति का रूप ले रहा है वह 'साइन्स' और 'टेक्नोलॉजी'
के कारण है। इस अहंकार की वर्तमान परिणति यह है कि हम सब कुछ
देख सकते हैं, हम सब कुछ जान सकते हैं। इस देखने, जानने के क्षेत्र में कुछ
भी अनैतिक, अधार्मिक और पापमय नहीं है, अर्थात् जो भी परम्परा,
समाज, मर्यादा का तत्व इस देखने और जानने के रास्ते में बाधक है, उसे
खत्म कर दिया जाना चाहिए, इसी को आधुनिकता (विकास) की संज्ञा
दे दी गयी है।

रंगमंच की दुनिया भूमिकाओं की दुनिया है। इसमें जो अपनी भूमिका
देख और जान लेगा वही सफल रंगकर्मी है। रंगमंच जो पारम्परिक है,
परम्परा से जो प्राप्त है और जो आज वर्तमान अथवा आधुनिक है, इन
दोनों में भूमिका का ही तो भेद है। कौन, किस चेतना भूमि पर खड़ा होकर
देख रहा है और जान रहा है, यही मुख्य बात है। किन्तु हम जहाँ खड़े हैं,
जिस भूमिका में हैं उसे देखना बहुत आवश्यक है। इस दृष्टि से कोई
भूमिका, ऊँची-नीची, सुन्दर-असुन्दर नहीं है। जो जहाँ खड़ा है उसी के
अनुसार वह देख रहा है जो कोई अन्य धरातल पर खड़ा होकर देख रहा है,
उसे दूसरे धरातल पर खड़ा हुआ व्यक्ति आज नकारने लगा है। यह भयंकर
अज्ञान है। देखना वह भी अपनी भूमिका से इसका अर्थ है हम अपने 'मैं'
की सीमा और संस्कार को तोड़ कर दूसरे व्यापक संस्कार का निर्माण कर
रहे हैं। तभी हमारे पुरखों ने कहा है कि देखने के साथ और कुछ भी मत
जोड़ो, केवल जानो। जानने के साथ और कुछ भी मत जोड़ो, केवल देखो।

संदर्भ

1. पश्चिम के आधुनिक थिएटर में जब से उस पर डायरेक्टर का उभय हुआ है तब से, आन्द्रे एण्टोनी से लेकर एडोल्फो एपिया, गाडेन क्रेग, मेयर होल्ड, स्टेन्स-लावस्की तक जिस प्रस्तुतिकरण कला पर अत्यधिक बल दिया गया है, उसमें दर्शक को बाँधने, पकड़ने, धार्य के भ्रम से मन्त्रमुग्ध करने पर ही सारा बल है। दर्शक को दिखाने पर जिन तीन निर्देशकों—बर्टोल्ट ब्रेख्त, प्रोटोवस्की, पीटर ब्रुक ने वर्तमान समय में बल दिया है, इन तीनों ने भारतीय रंगदृष्टि के ऋण को स्वीकार किया है।
2. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, पृष्ठ 116
3. विस्तार के लिए देखिए, कुमारस्वामी, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिइज्म, पृष्ठ 65।

